।। श्रीः ।।

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

८०

वैयाकरण-

सिद्धान्तकौमुदी

(वैदिकी प्रक्रिया)

सरल हिन्दीव्याख्योपेता

सम्पादकः

डॉ० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि'

साहित्याचार्य, एम०ए०, डी-लिट्०

रीडर, संस्कृत-विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

८०

वैयाकरण–

सिद्धान्तकौमुदी

(वैदिकी प्रक्रिया)

सरल हिन्दीव्याख्योपेता

सम्पादकः—

डॉ० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषिः'

आचार्य, एम० ए०, डी० लिट्० (पटना)

रीडर, संस्कृत-विभाग, पटना विश्वविद्यालय (पटना)
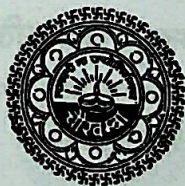
चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

फोन : ४२०४०४

पुनर्मुद्रित संस्करण २००३

मूल्य ४०.००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

मुद्रक

फूल प्रिण्टर्स

वाराणसी २२१००१

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

80

VAIYĀKARANA
SIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

(The Chapter on Vedic Formation)

With an elaborate Hindi Commentary

By

Dr. Umashankar Sharma 'Rishi'

Acharya, *M. A.*, *D. Litt.* (*Patna*)

Reader, Dept. of Sanskrit, Patna University, Patna

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

विषय-सूचि

परस्पश

प्रथम संस्करण की भूमिका

पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत पुस्तक अर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। सिद्धान्तकौमुदी—जैसा बहुमान्य संस्कृत-व्याकरण का ग्रन्थ हिन्दी में रूपान्तरित न हो, यह प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के लिए ग्लानि की बात है और वह भी जब संस्कृत के सारे ग्रन्थों को हिन्दीमय कर देने की लेखकों और प्रकाशकों में भी परस्पर होड़-सी लगी है। काव्य, दर्शन, व्याकरण, गद्य, नाटक—आदि सभी प्रकार के ग्रन्थ हिन्दी में धड़ल्ले से लाये जा रहे हैं और इस भगदड़ में कितना कूड़ा-करकट आ रहा है इसे केवल विद्वान् लोग ही समझ सकते हैं। न हिन्दी पर ध्यान, न मूल-संस्कृत का ज्ञान—बस किसी भाँति भाव-प्रकाशन हो गया और लिख मारी एक पुस्तक! यही तो हिन्दी की सेवा है!!

ठीक ऐसा ही काल इस शती के आरम्भ में आया था जब उत्तरी भारत (विशेषतया काशी) में संस्कृत के मूलग्रन्थों के सुन्दरतम संस्करण निकल रहे थे। निर्णयसागर प्रेस तथा मद्रास के कुछ प्रकाशक भी मूल के संस्करण निकालने में दत्तचित्त थे, कुछ प्रकाशक हिन्दी-अनुवाद कराने में अपनी रुचि दिखला रहे थे। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र (स्वर्गीय) की भाषा-टीकायें वेङ्कटेश्वर प्रेस से छप रही थीं—सच पूछें तो इसी प्रेस ने संस्कृत को हिन्दीमय करने का प्रथम व्रत लिया था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसका स्थान सुरक्षित है। उक्त पण्डित जी ने वेद, पुराण, इतिहास आदि की भाषा-टीकायें कीं। सिद्धान्तकौमुदी की भी तथाकथित भाषा-टीका उन्होंने की थी। मुझे उक्त पुस्तक देखने का सौभाग्य तो नहीं मिला किन्तु पण्डितों से सुनता हूँ वह सन्तोषजनक नहीं। इसमें मिश्र जी का दोष नहीं, युग ही वह ऐसा था जब भाषा-टीकायें लिखी जाती थीं, आज के युग-जैसी विस्तृत व्याख्याओं का विकास नहीं हुआ था। अतः जो कुछ उस युग में हो सका वही पर्याप्त प्रशंस्य है। एक युग की वस्तु दूसरे युग में अमान्य हो ही जाती है विशेषतया उस युग की

वस्तुएँ जो निर्माण-युग कहा जा सकता है। सिद्धान्तकौमुदी भी तो रूपमाला और प्रक्रियाकौमुदी को अमान्य करके लिखी गई थी।

मेरे कहने का अभिप्राय पाठकगण यह न समझ लें कि मैं अपनी पुस्तक द्वारा मिश्र जी की टीका का अपमान कर रहा हूँ। युग की आवश्यकता स्वीकार करके ही मैंने अपनी हिन्दी-व्याख्या लिखी है। मिश्र जी की पुस्तक दुर्लभ भी है।

भारत में सम्प्रति सिद्धान्तकौमुदी का बहुत अधिक अध्ययन होता है। क्या संस्कृत-पाठशायें और क्या अंग्रेजी ढंग के कालेज—सर्वत्र संस्कृत-व्याकरण के अध्ययन-क्रम में सिद्धान्तकौमुदी अनिवार्य रूप से विराजमान मिलेगी। कालेजों (विश्वविद्यालयों) की परीक्षाओं में तो इसके कुछ अंश ही पाठ्यक्रम में नियत हैं, किन्तु संस्कृत पद्धति की परीक्षाओं में इसका सम्पूर्ण अध्ययन किया जाता है। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में इसके अत्यन्त उपयोगी स्थल (जैसे कारक, समास, स्त्रीप्रत्यय आदि) ही निर्धारित हैं—अन्य अंशों का स्पर्शमात्र भी नहीं किया जाता, उनकी क्षतिपूर्ति शब्दरूपों और धातुरूपों को रटाकर तथा कौमुदी पर ही आधारित मातृभाषा या अंग्रेजी में लिखी अन्य व्याकरण-पुस्तकों से की जाती है।

यह कहना अनुचित न होगा कि विश्वविद्यालयों में व्याकरण का अध्ययन साध्यरूप में न होकर साधनरूप में होता है—बस, इतना ही व्याकरण जानना पर्याप्त समझा जाता है जिससे काव्यग्रन्थों या दर्शनों का अध्ययन समुचित-रूप से किया जा सके। शब्दरूपावली में बने-बनाये शब्दों को कण्ठस्थ कर लेने से ही हमारा काम चल जाता है, उनकी रूपसिद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार वहाँ थोड़े में काम चलाने की रीति श्रेयस्कर सिद्ध होती है। इसके अलावे कोई-उपाय भी नहीं। संस्कृत के अलावे छात्रों को अन्य विषय भी तो पढ़ने पड़ते हैं जिनके विस्तार का भी कुछ नहीं पूछना। एम० ए० कक्षा में संस्कृत-विषय के अकेले हो जाने पर भी संस्कृत-विद्या की अन्य-शाखाओं (जैसे काव्य, वेद, दर्शन, भाषाशास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्वशास्त्र आदि) के अध्ययन का आग्रह इतना अधिक होता है कि व्याकरण का सर्वांश क्या, उसके आवश्यक अंश के साथ भी न्याय नहीं हो पाता। यदि विद्यार्थी पहले से कुछ पृष्ठभूमि लेकर आया हो, तो बहुत अच्छा कर पाता है—सामान्यकोटि के छात्र इधर-उधर से नोट तैयार करके ही परीक्षा-सागर को पार करने में बुद्धिमत्ता समझते हैं।

संस्कृत-विद्यालयों में जहाँ शास्त्रीय-विधि से पढ़ाई होती है, सिद्धान्तकौमुदी तीन या चार वर्षों में पढ़ा दी जाती है। इस प्रकार विद्यालयों में व्याकरण-शास्त्र की परम्परा अभी भी स्थिर रखी जा रही है किन्तु कौमुदी के अध्ययन के बाद भी इसकी टीकाओं (मनोरमा, शब्दरत्न तथा शब्देन्दुशेखर) का अक्षरश: अध्ययन करना सूचित करता है कि व्याकरण का अध्ययन साध्य के रूप में—इसे एक पृथक् शास्त्र बनाकर किया जा रहा है। कई प्रदेशों में तो सिद्धान्तकौमुदी के स्थान पर अन्य व्याकरणों का (जैसे—कातन्त्र, सारस्वत, मुग्धबोध) का ही अध्ययन होता है। ये व्याकरण यद्यपि साधन के रूप तक के लिए अच्छे हैं अर्थात् भाषा का बोध ये अत्यन्त शीघ्रता से करा देते हैं किन्तु जहाँ गम्भीरता और शास्त्रत्व का प्रश्न है ये कौमुदी के समक्ष पिछड़ जाते हैं—वे साध्य नहीं बन सकते।

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पाणिनि-व्याकरण का एक अनुपम रत्न है। यद्यपि यह अष्टाध्यायी के सूत्रों पर ही अवलम्बित है किन्तु यहाँ उन सूत्रों का क्रम अपनी सुविधा के अनुसार इस प्रकार बदल दिया गया है कि यह एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ-सी प्रतीत होती है—अष्टाध्यायी का कोई सूत्र छूट भी नहीं सका और पूरी पुस्तक बदल भी गई। जनता ने सिद्धान्तकौमुदी का इतना अधिक सम्मान किया कि अन्य प्रक्रियाग्रन्थों और व्याकरणों का मार्ग तो बहुत दूर तक रोक ही दिया गया, स्वयं पाणिनि जी की बड़ी बुरी दशा हुई—लोग उन्हें भूल चले, अष्टाध्यायी का अध्ययन रुद्ध हो गया। लोगों को यह भी सुधि नहीं रही कि जिस पाणिनि का भट्टोजि ने अवलम्बन किया है उनके मूलग्रन्थ को तो देखें। दीक्षित और उनके टीकाकारों ने यदि कह दिया कि अमुक सूत्र 'पर' (बाद में आया हुआ) है और अमुक पूर्व (पहले आया हुआ), तो उसे चुपचाप मान लिया—अष्टाध्यायी देखने की आवश्यकता नहीं। यही बात सूत्रों के अर्थ के साथ है। कौमुदी के छात्र यह भलीभांति जानते हैं कि किस सूत्र में किन-किन सूत्रों से पदानुवृत्ति हुई है—यह सब उन बेचारों को कण्ठस्थ करना पड़ता है, अष्टाध्यायी में सूत्रों का क्रम देख लेने पर यह कष्ट करना नहीं पड़ता। कौमुदी ने जितना बड़ा बौद्धिक-शासन (Intellectual domination) पढ़ी-लिखी जनता पर किया उतना किसी दूसरे ग्रन्थ ने नहीं किया। डा० वेलवलकर के शब्दों में इसने पाणिनि को ही उखाड़ फेंका।

हमारे देश में पाणिनि-व्याकरण के अध्ययन के तीन काल रहे हैं—(१) त्रिमुनि-काल, (२) त्रिमुनि-टीकाकाल एवं (३) प्रक्रिया-काल। त्रिमुनिकाल प्राय: ७०० ई० पू० से आरम्भ होकर ६०० ई० तक चलता है। इस युग की भी दो अवस्थायें हैं—प्रथमावस्था में भाषा संस्कृत थी; पाणिनि के काल में संस्कृत लोकभाषा थी और पतञ्जलि के काल में शिष्टभाषा। इस अवस्था में भाषा के प्रयोगों का विश्लेषण चल रहा था तथा उन्हें व्याकृत अर्थात् व्याकरणशास्त्र के अन्तर्भूत करने के प्रयास चल रहे थे। भाषा की बदलती हुई रूपरेखा पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के ग्रन्थों में स्पष्टतया देखी जा सकती है। पाणिनि ने भाषा के जिन प्रयोगों को व्याकरण में आत्मसात् किया, कात्यायन के काल में उन प्रयोगों में परिवृत्ति आ गई थी जिससे उन्होंने अपने पूर्वाचार्य का कड़ा विरोध किया। यह पाणिनि का तिरस्कार नहीं, संशोधन-मात्र था—प्रत्युत कात्यायन तो पाणिनि के ऋणी ही हैं कि उनके द्वारा सुव्यवस्थित-मार्ग पर चलते हुए उसे पुष्ट करने की चेष्टा उन्होंने की। यदि मार्ग ही नहीं होता, तो पक्का किसे करते? पतञ्जलि ने भी इस क्रिया में योगदान किया। इन तीन मुनियों के ग्रन्थों में भाषा का व्याकरण एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच गया जिसके अनुसार भाषा की गाड़ी चल पड़ी। संस्कृत-भाषा अभिजात-भाषा (Classical lauguage) हो गई।

उक्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि त्रिमुनि-काल की प्रथमावस्था निर्माण की बेला थी—व्याकरण पूर्णता प्राप्त कर रहा था, शास्त्र का स्वरूप ले रहा था। द्वितीयावस्था में भाषा में परिवर्तन बन्द हो गया क्योंकि संस्कृत-भाषा जो शिष्टों की भाषा रह गई थी एक निश्चित, मानदण्ड पा चुकी थी। दूसरे शब्दों में यों कहें कि त्रिमुनि के अवदान से भाषा स्थिर हो गई, शब्दों की योजना इसमें हो सकती थी, उनके रूप नहीं बदल सकते थे—क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम, अव्यय सब के रूप स्थिर हो गये, अब जो भी नये शब्द आते उन्हें पहले से स्थापित मानदण्ड को स्वीकार करके अन्तर्भूत होना पड़ता। व्याकरण में परिवर्तन–परिवर्धन के लिए कोई अवकाश न था। जो कुछ प्राप्त था उसी की टीका-टिप्पणी करके सन्तोष करना पड़ा—इस प्रकार त्रिमुनि के अध्ययन की स्थापना हुई। इस अवस्था में पाणिनि,

कात्यायन और पतञ्जलि के मूलग्रन्थों का ही अध्ययन होता रहा। संस्कृत का अत्यधिक प्रचार था, अष्टाध्यायी के क्रम को समझने में कोई कठिनाई नहीं थी। प्रायः वर्ष भर में ही प्रारम्भिक छात्र इसका सम्यक् अभ्यास कर लेते थे—उसके बाद वार्तिकों के साथ भाष्य का अध्ययन करके लोग पूर्ण पण्डित हो जाते थे। यह क्रम ६०० ई० तक चलता रहा जब व्याकरणशास्त्र के इतिहास में दो अद्भुत रत्नों का आविर्भाव हुआ। वे थे—भर्तृहरि तथा वामनजयादित्य की द्वितयी। पहले ने महाभाष्य की टीका लिखी तथा पिछले दोनों ने अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखी।

त्रिमुनि-टीकाकाल प्रायः ६०० ई० से लेकर १३०० ई० तक चलता है। अष्टाध्यायी और पतञ्जलिभाष्य कठिन हो गये। यद्यपि मौखिक परम्परा से इनके अर्थ समझे जा रहे थे किन्तु सामान्य लोगों के लिए उनका उपयोग न था। उनके अर्थों का लिखित रूप में होना अनिवार्य था। दूसरे, चन्द्रगोमी नामक बौद्धाचार्य ने पाणिनि-व्याकरण की टक्कर का ही कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन करके एक व्याकरण लिखा था जो चान्द्रव्याकरण की परम्परा क चलाने में सफल हुआ। यह व्याकरण बौद्धों के लिए था तथा इसमें कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये थे जो महाभाष्य में नहीं आ सके थे। इस व्याकरण को दृष्टि में रखते हुए पाणिनि की टीका आवश्यक थी जिसकी पूर्ति वामन और जयादित्य नामक दो बौद्धों ने काशिकावृत्ति लिखकर की। इस वृत्ति ने युग की माँग पूरी की, फलस्वरूप इसका प्रचार कुछ ही वर्षों में बढ़ चला। इत्सिंग (६७१–६९५ ई०) के यात्राविवरण में तात्कालिक व्याकरण-शिक्षा-पद्धति के विषय में पूरी सूचना मिलती है। उसका कहना सिद्ध करता है कि पाणिनि-व्याकरण का द्वितीय-काल (जिसे मैंने त्रिमुनि-टीकाकाल कहा है) उसके भारत आने के पूर्व ही आरम्भ हो गया था।

इत्सिग लिखता है 'कि आठ वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी सूत्र-ग्रन्थ (अष्टाध्यायी) का पाठ शुरू करते हैं और इसे ८ मास में समाप्त कर लेते हैं। उसके बाद वे तीन खिलग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। वे हैं—अष्टधातु, मुण्ड और उणादि।' अष्टधातु में सुबन्त और तिङन्त की रूपावलि थी, मुण्ड (?) में धातु और प्रत्यय लगाकर शब्द-निर्माण करने की विधि थी तथा उणादि में

(जैसा आज भी है) धातु से कृत्प्रत्यय उ इत्यादि लगाकर शब्द बनाये जाते थे। 'इन्हें पढ़ने में विद्यार्थी तीन वर्ष लगाते हैं और इसके बाद वृत्तिसूत्र (काशिका) का अध्ययन ५ वर्षों के परिश्रम से पूर्ण कर पाते हैं। बीस वर्ष की अवस्था में व्याकरण की पढ़ाई समाप्त होती है।' इस प्रकार भाष्यकार की उक्ति 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' चरितार्थ होती थी।

किन्तु यही प्रणाली सर्वत्र होगी—इसमें सन्देह है क्योंकि इत्सिंग केवल पूर्वी भारत (विशेषतया नालन्दा) के ही विषय में सूचना दे सकता है। सामान्यतया लोग सूत्र, वृत्ति और भाष्य का अध्ययन करते होंगे। भाष्य की टीका भी लिखी जा चुकी थी जिससे उसकी गुत्थियों को सुलझाने में सहायता मिलती होगी। संस्कृत-भाषा अभी भी प्रतिष्ठित थी। ह्वेनत्सांग (६२९-६४५ ई०) के अनुसार हिन्दुओं और बौद्धों के द्वारा व्यक्तिगत और सामान्य शास्त्रार्थों में संस्कृत का ही प्रयोग होता था। मध्य-भारतवर्ष के निवासी मूल-भाषा से अलग नहीं हुए थे, उनकी अभिव्यक्ति देवताओं के समान मधुर, शुद्ध और स्पष्ट थी—उनका उच्चारण दूसरों के लिए अनुकरणीय था। सीमादेशों पर संस्कृत का पतन हो रहा था किन्तु राजभाषा और शिष्टभाषा के रूप में यह १२०० ई० तक रही। यही काल पाणिनि-व्याकरण के द्वितीय-युग का अन्त सूचित करता है। कैय्यट की भाष्य-टीका (प्रदीप) और हरदत्त की काशिकाटीका (पदमञ्जरी) के द्वारा यह युग पराकाष्ठा को पहुँच गया।

यहाँ तक किसी-न-किसी रूप में मूल अष्टाध्यायी का अध्ययन व्याकरण की आधारशिला थी। अष्टाध्यायी में व्याकरण के विषयों का वर्गीकरण अब कृत्रिम प्रतीत हो रहा था। एक क्रम से सूत्रों को कण्ठस्थ करने के बाद पूरे व्याकरण का अध्ययन समाप्त हो—यह लोगों को कष्टकर लग रहा था। ४००० सूत्र याद करने के बाद भाषा में प्रवेश हो—वह भी पूरे ग्रन्थ को पढ़ने के पूर्व शब्दज्ञान नहीं। थोड़े शब्दों में यों कहें कि अष्टाध्यायी में व्याकरण के उपादानों के आधार पर (जैसे—इत्संज्ञा के सूत्र एक साथ, इट् विधायक सूत्र एक साथ इत्यादि) विभाजन किया गया है, व्याकरण के विषयों (जैसेः—सन्धि, समास, कारक, सुबन्त, तिङन्त) के आधार पर प्राकृतिक विभाजन नहीं। इससे कठिनाई यह होने लगी कि भाषा का प्रचलन

जबतक रहा, तबतक तो इसका खूब आदर था किन्तु जब वह ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति दिखने लगी तब प्रतिक्रियास्वरूप व्याकरण के प्राकृतिक विषयगत विभाजन को लेकर कई अन्य व्याकरण लिखे जाने लगे जिनमें आरम्भिक छात्रों की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर विषयों का क्रम रखा गया। दूसरे, अष्टाध्यायी में कितने ही सूत्र आरम्भ के लिए (या भाषा के आरम्भिक ज्ञान के लिए) अनावश्यक थे। विशेषतया वैदिक व्याकरण के सूत्र, तद्धित-प्रत्ययों का इतना लम्बा प्रकरण, कृत्-प्रत्ययों के विभिन्न निपातन और शब्द सामान्य-जनता के लिए बोझ-से लग रहे थे। अष्टाध्यायी अपने युग की थी, प्रत्येक शब्द पर अधिकार करना उसका लक्ष्य था—संस्कृत भाषा के समृद्धिकाल में लोग मनमाने प्रयोग कर रहे थे, उनकी भाषा का अनुशासन अनिवार्य था; शिष्ट लोग भी मनमानी कर रहे थे, जिनके लिए निपातन का अस्त्र पाणिनि ने पकड़ा था। किन्तु अब अपने द्वारा ही स्थिर की हुई भाषा के अध्ययन में पाणिनि आदर नहीं पाने लगे। विदेशियों के आक्रमण पर आक्रमण हो रहे थे, जीवन भी व्यस्त था—बड़े-बड़े युद्ध भारत में भी चल रहे थे। दूसरी ओर प्राकृत-भाषायें अपने पूरे यौवन पर आ गई थीं। प्राकृत-भाषा-भाषी राजा लोग तथा विदेशी लोग यहाँ की मूल-भाषा सीखने की उत्सुकता प्रकट करने लगे। उनके लिए पाणिनि का सूत्रक्रम अब कृत्रिम लग रहा था।

उक्त कारणों से प्रेरित होकर कितने वैयाकरणों ने सरल मार्ग का प्रवर्तन किया तथा प्राकृतिक-विभाजन को लेकर व्याकरण-ग्रन्थों की रचना की। इन व्याकरणों में अनुबन्ध उतने ही रखे गये जितने नितान्त आवश्यक थे जैसे वृद्धि और गुण का प्रयोग बतलाने वाले अनुबन्ध। वैदिक-स्वरों में काम देने के लोभ से पाणिनि ने जो अनुबन्ध लगाये थे वे बहिष्कृत हुए—वैदिक-अंश निकाला गया, परिभाषा-सूत्रों की आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत के पतन-काल में लोगों को इतना समय नहीं कि बारह वर्षों तक जमकर व्याकरण पढ़ते रहें। फिर भी कितने लोग पुरानी परम्परा पर चलते रहे किन्तु अधिकांश लोग—सामान्य जनता और विद्वान् भी—इन अपेक्षाकृत नये व्याकरणों की सरलता पर मुग्ध थे। इन व्याकरणों को पूरा आदर मिलने लगा। पहले जहाँ ये व्याकरण सीमा-प्रदेशों की आवश्यकता पूर्ण कर रहे थे अब ये मध्य-देश में भी आने लगे जहाँ पाणिनि का व्याकरण बद्धमूल था।

इन प्रतिक्रियावादी व्याकरणों में सर्वप्रथम शर्ववर्मा का कलापव्याकरण था, जिसमें ईसवी प्रथम शती में ही व्याकरण के प्राकृतिक वर्गीकरण की नींव रखी गई थी तथा जिससे कातन्त्र व्याकरण के सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हुआ था। कथासरित्सागर में इसकी मनोरंजक कथा जो भी हो परन्तु यह कहने में किञ्चित् आपत्ति नहीं कि पाणिनि के व्याकरण से यह अपनी अलग विशेषतायें रखता है जिससे छह मास में सातवाहन को संस्कृत सिखला देने की उक्ति चरितार्थ होती है। कातन्त्र में प्रत्याहार, अच्, हल्, टि आदि कृत्रिम संज्ञायें, वैदिक-सूत्र तथा अन्य अनावश्यक विस्तार छोड़ दिये गये हैं तथा क्रमशः विषयों का विभाजन निम्नरूप से है– (१) संज्ञा, (२) सन्धि, (३) सुबन्त, (४) अव्यय, (५) कारक, (६) स्त्रीप्रत्यय, (७) समास, (८) तद्धित, (९) आख्यात (१०) कृदन्त और (११) उणादि।

यद्यपि शर्ववर्मा ने पाणिनि से बहुत से सूत्र लिए हैं किन्तु उसका सबसे बड़ा अवदान यह समझा जायगा कि व्याकरण के विषयों का उसने स्वाभाविक वर्गीकरण किया। अभी तक बंगाल में उसका अध्ययन होना उसकी विशेषता का सम्यक् परिचायक है। अग्निपुराण के ग्यारह अध्यायों (अध्याय ३४९ - ३५९) में २३९ श्लोकों में व्याकरण का विवरण मिलता है जो कातन्त्र का ही दूसरा रूप है। उसमें कहा भी है—इस व्याकरण की परम्परा स्कन्द या कुमार कार्तिकेय से आई है। कातन्त्र भी कार्तिकेय का ही ऋणी है अतः कातन्त्र को पौराणिक-मान्यता मिलना भी इस बात का द्योतक है कि जनता इस प्रणाली को ही पसन्द करने लगी थी।

प्रायः १०वीं शती से संस्कृत का पतनकाल आरम्भ होता है। इसके कुछ पूर्व से ही कातन्त्र-प्रणाली में व्याकरण-ग्रन्थों के लिखे जाने की धूम मच जाती है। जैनशाकटायन (नवम शती) ने शाकटायनव्याकरण, हेमचन्द्र (११वीं शती) ने सिद्धहेमशब्दानुशासन, अनुभूतिस्वरूपाचार्य (१३वीं शती) ने सारस्वत और बोपदेव (१३वीं शती) ने मुग्धबोध लिखा। इन सबों ने सरलता में अपने को आगे बढ़ाने की चेष्टा की तथा स्वाभाविक विभाजन का क्रम चला दिया। जनता अब पाणिनि व्याकरण को छोड़ने लगी। जब दोनों के लक्ष्य समान थे तब विशाल पाणिनि-व्याकरण के जंजाल में पड़ने से लाभ ही

क्या था ? यह ठीक था कि पाणिनि-व्याकरण में भाषा के मूलभूत प्रश्नों पर (जैसे शब्द की नित्यता, पदों की वाचकता और द्योतकता आदि) दार्शनिक विवेचन किया गया था किन्तु जन-सामान्य को उससे कुछ मतलब नहीं था। जैसी गति आज शब्देन्दुशेखर तथा नव्यन्याय के ग्रन्थों की है वैसी ही उस काल में पाणिनि-व्याकरण की हो गई। एक प्रकार से उसकी स्थिति हिल गई। विद्वान् लोगों की आशा हो गई कि अब पाणिनि-सूत्र अनुसन्धान के विषय हो जायेंगे। दर्शन तो पाणिनि दर्शन को अंगीकार कर चुका था पर व्याकरण के नाम पर उक्त व्याकरणों का ही प्रचलन होने लगा।

जब स्थिति और भी बुरी होने लगी और पाणिनि के उपादानक्रम के नष्ट होने का पूर्व आभास मिलने लगा तब कतिपय विद्वानों का ध्यान पाणिनि-सूत्रों के पुनर्गठन की ओर आकृष्ट हुआ और उन लोगों ने देखा कि जब तक अष्टाध्यायी को तात्कालिक प्रचलित व्याकरणों के साँचे में नहीं ढाल देते तबतक उसे काल की कराल चपेट से नहीं बचाया जा सकता। शब्दव्युत्पादन से अधिक आवश्यक शब्द-साधन हो गया तथा यही कारण है कि पाणिनि-शास्त्र में भी प्रक्रिया-ग्रन्थों का सूत्रपात हुआ। न्यायशास्त्र की तरह प्राचीन व्याकरण और नव्यव्याकरण की विभाजन-रेखा अङ्कित की गई। यही पाणिनि व्याकरण के तृतीयकाल—प्रक्रियाकाल—की पृष्ठभूमि है।

प्रक्रियाग्रन्थों के राजमार्ग के निर्माण में बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति (१०८०ई०) ने अपने रूपावतार ग्रन्थ के द्वारा अष्टाध्यायी के पुनर्गठन की रूपरेखा प्रस्तुत की, विमल सरस्वती ने अपनी रूपमाला तथा रामचन्द्र ने प्रक्रिया-कौमुदी के द्वारा मिट्टी-भरने का काम किया और अन्त में भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त-कौमुदी के रूप में पिच बिछाकर पक्की सड़क तैयार कर दी। पहले दो ग्रंथ-कारों ने बहुत ही कम सूत्रों पर दृष्टि रखी किन्तु दीक्षित ने प्रायः सभी (३९७५) सूत्रों को संकलित किया। विषयों और अध्यायों के वर्गीकरण तथा चयन में इन्हें अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों से काफी सहायता मिली। एक प्रकार से इन्होंने पाणिनि-व्याकरण की पुनःस्थापना कर-के व्याकरण के अन्य सम्प्रदायों को बहुत दूर तक दबा दिया। कातन्त्र और सारस्वत व्याकरण जो उस युग में बहुत लोकप्रिय हो रहे थे तथा आशा की जाती थी कि पाणिनि

को हटाकर स्वयं प्रतिष्ठित होते, भट्टोजिदीक्षित की प्रखर प्रतिभा से निष्पन्न सिद्धान्तकौमुदी में एक ओर युग की आवश्यकता के अनुकूल विषय-विभाजन तथा पाणिनि की सारी संक्षेपमूलक विशेषतायें तथा दूसरी ओर पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर विवेचन देखकर, दब से गये। पाणिनि-व्याकरण को नष्टप्राय होने से बचाने का श्रेय है तो सिद्धान्तकौमुदी को। संयोगवश दीक्षित ऐसे परिवार में उत्पन्न हुए कि गुरु-शिष्य, भाई-भतीजा, नाती-पोता—सभी पण्डित थे। सभी लोग एक ही लक्ष्य की ओर चल पड़े। दीक्षित के प्रशंसक और टीकाकार अनेक मिल गये तथा पाणिनि-व्याकरण की दुन्दुभि पुनः निनाद कर उठी। उसकी ओर जनता का ध्यान पुनः आकृष्ट हो गया और लोग अन्य सम्प्रदायों को 'मूर्खों के लिए' 'अपूर्ण' आदि विशेषणों से विभूषित करने लगे। दीक्षित की परम्परा अत्यन्त प्रौढ वैदुषी से परिपूर्ण थी। इस परम्परा के विद्वानों ने अपने मूलग्रन्थों और टीकाओं द्वारा बुद्धितत्त्व पर बहुत अधिक जोर दिया, शास्त्रार्थों के द्वारा मेधा तीक्ष्ण की जाने लगी। टीकाओं की टीकाओं में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बुद्धि का परिचय मिलने लगा। सिद्धान्तकौमुदी की टीका दीक्षित ने स्वयं की जिसका नाम है मनोरमा। इसमें उनकी सूक्ष्मेक्षिका बुद्धि पराकाष्ठा पर पहुंची है किन्तु नागेश ने इसकी भी शब्दरत्न-टीका कर डाली जो निश्चित रूप से अत्यन्त क्लिष्ट है।

व्याकरण-दर्शन भी जो महाभाष्य और वाक्यपदीय में पल्लवित हुआ था, कौण्डभट्ट (दीक्षित के भतीजा) और नागेश की समर्थ लेखनी से प्रौढ़ता की ओर बढ़ा। इन सभी ग्रन्थों का जोर-शोर से अध्ययन आरम्भ हुआ। जिस प्रकार आज अपने यहाँ अँगरेजी जानने वाले और लोगों की अपेक्षा अपने को अधिक विद्वान् समझते हैं ठीक इसी प्रकार की धारणा उस युग में सिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन करने वालों की थी। यह दशा अभी तक है। सामान्य वार्तालाप में भी व्याकरण के अध्ययन की बात छिड़ने पर पाणिनि-व्याकरण और कौमुदी का अपना गर्वमूलक अध्ययन बतलाने में अनेक विद्वान् पीछे नहीं रहते।

सिद्धान्तकौमुदी ने जहाँ पाणिनि-व्याकरण को लुप्त होने से बचाया वहीं उसने उसकी हत्या भी की। कौमुदी के अध्ययन में लोग पागल-से हो गये।

'मुनित्रयं नमस्कृत्य' पढ़ने पर भी लोग उन्हें भूलने लगे। कौमुदी और उसकी टीकायें पढ़कर ही व्याकरण की इतिश्री समझने लगे। कौमुदी में उल्लेख होने पर भी भट्टोजि का दूसरा अधिक प्रौढ़-ग्रन्थ जो पाणिनि की यथाशास्त्र (क्रम का उल्लंघन किये बिना) व्याख्या प्रस्तुत करता है—शब्दकौस्तुभ पण्डितों का कृपाभाजन नहीं बन सका। पाणिनि के कितने ही सूत्र जो कौमुदी में आये हैं—बिना अष्टाध्यायी का क्रम जाने नहीं समझ में आ सकते। किसी सूत्र का अर्थ दीक्षित ने ऐसा क्यों लिखा, अनुवर्तन किस पद का कहाँ से हुआ, इसके लिए टीकाकारों पर ही अवलम्बित होते हैं। ये सब प्रश्न तो उठते हैं पर जिन परिस्थितियों में सिद्धान्तकौमुदी लिखी गई उनपर विचार करने से हमें सन्तोष करना पड़ेगा। भट्टोजि का यही अवदान कम नहीं है कि उन्होंने पाणिनि को बचा लिया कि भविष्य में लोग अष्टाध्यायी को फिर सँभाल सके। यदि वे पाणिनि की टीका-मात्र लिखते (मान लीजिये, शब्द-कौस्तुभ ही लिख जाते) तो वह ग्रन्थ तो मिटता ही, अपना नाम जाता और साथ-साथ पाणिनि भी कातन्त्र और सारस्वतादि के समक्ष डूब जाते। शब्दकौस्तुभ को बचाया जा सका केवल सिद्धान्तकौमुदी के रचयिता की कृति होने के नाते।

प्रक्रियाकाल के अन्तिम उत्थान में व्याकरण के अध्ययन की तीन धारायें स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती हैं—(१) शुद्ध प्रक्रियाग्रन्थों और टीकाओं की अध्ययन-धारा, (२) पुनः पाणिनि के सूत्रों का यथाक्रम अध्ययन करने की धारा तथा (३) अँगरेजी स्कूलों में नवीन प्रणाली से अध्ययन करने की धारा। पहली धारा के विषय में कुछ कहना नहीं—इसमें सिद्धान्तकौमुदी और शेखर आदि ग्रन्थों का अध्ययन होता है। प्राचीन व्याकरण से सम्पर्क स्थापित करने के लिए थोड़ा भाष्य भी पढ़ा दिया जाता है। दूसरी धारा का प्रवर्तन आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ने किया जब वे आर्षग्रन्थों के अध्ययन की ओर लोगों को प्रवृत्त कर रहे थे। यह आश्चर्य की बात है कि अपने वेदाङ्गप्रकाश में उन्होंने विषयों के वर्गीकरण में सिद्धान्तकौमुदी का ही अनुसरण करते हुए भी इसकी निन्दा की है। इस प्रणाली की सफलता देखकर कई बाहरी विद्वान् भी इसके हिमायती बन गये जिनमें स्व० पं० हरिशंकर

पाण्डेय चिरस्मरणीय हैं। इन्होंने 'आर्ष पाणिनीयं व्याकरणम्' का सफल संकलन किया जिसमें आधुनिक व्याकरणाचार्यों के विषय में स्पष्ट रूप से लिखा—

अष्टकं पाणिनेस्त्यक्त्वा महाभाष्यं पतञ्जलेः।
वैयाकरणतां लब्धुं मुधा मुग्धाभिलाषिता॥

इस धारा के प्रवर्तक विद्वानों का कथन है कि व्याकरण का अध्ययन यदि अष्टाध्यायी और महाभाष्य के माध्यम से कराया जाय, तो समय की बहुत बचत हो। सूत्र के साथ वृत्ति रटने से काफी समय नष्ट होता है और बोध भी नहीं होता। वस्तुतः इस युग में जब पाणिनि के नष्ट होने का भय बिल्कुल नहीं है, अष्टाध्यायी का पठन अनिवार्य होना चाहिए।

एक तीसरी धारा भी इस युग में प्रचलित है जो स्कूलों और कालेजों में देखी जाती है। इसमें सुबन्त और तिङन्त का काम तो बने-बनाये शब्दरूपों और धातुरूपों को कण्ठस्थ करके ही चला लिया जाता है। शेष व्याकरण में कारक, सन्धि, समास, कृदन्त और तद्धित के मुख्य सूत्र पढ़ लिये जाते हैं। अपवादों के लिए उदाहरण ही याद कर लिए जाते हैं, सूत्र नहीं। सिद्धान्त-कौमुदी यदि पाठ्यक्रम में है भी तो कारक, समास या कृदन्त के प्रकरणों के लिए।

अब हम सिद्धान्तकौमुदी की विषयवस्तु का विश्लेषण करे और देखें कि व्याकरणशास्त्र को सुसम्बद्ध करने में उसका क्या योगदान है। यह पहले ही समझ लें कि किसी भी सूत्र का उद्धरण देकर उसकी पूरी वृत्ति दीक्षित जी देते हैं लेकिन उदाहरण देने में ये बड़े कृपण हैं। सूत्र के सभी अंगों के उदाहरण नहीं देते, जिस प्रयोग को सिद्ध करने के लिए उसका उद्धरण दिया है उसे ही आगे बढ़ा ले चलते हैं। इनका प्रधान लक्ष्य है शब्दों की सिद्धि। यह और बात है कि कहीं-कहीं 'किम्' का प्रश्न करके सूत्र के कितने शब्दों को समझा देते हैं भले ही वह उस स्थान के लिए अप्रासंगिक हो। सरल सूत्रों को या तो बिना वृत्ति के ही छोड़ देते हैं या कभी-कभी 'स्पष्टम्' कह दिया करते हैं। जिस सूत्र का उल्लेख एक बार हो गया है, दूसरे प्रसंग में उसकी आवश्यकता पड़ने पर यदि समझने में कठिनाई होती है, तो पुनः उल्लेख करते हैं—कहीं संकेत मात्र कर देते हैं। अष्टाध्यायी में कोई प्रयोग बाद के सूत्रों

से भी सिद्ध होता है जबकि कौमुदी में किसी प्रयोग की साधनिका में ऐसा एक भी सूत्र नहीं जो पहले नहीं आ चुका हो। अतः, कौमुदी का एक-एक प्रकरण समाप्त करते जाइये और व्याकरण के एक-एक अध्याय से निपटते चलिये। पूरे सन्तोष के साथ आप सन्धि-प्रकरण समाप्त कर सकते हैं जब कि अष्टाध्यायी का छठा और आठवाँ अध्याय समाप्त करने पर भी सन्तोष नहीं होता। सूत्रों का ऐसा क्रमिक विकास कौमुदी में हुआ है कि अध्ययन बहुत सुचारु रूप से चलता है।

सबसे पहले दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी को दो भागों—लौकिक और वैदिक में बाँटा है। पाणिनि का लक्ष्य चूंकि वैदिक भाषा का व्याकरण लिखने का नहीं था केवल लौकिक-भाषा से पार्थक्य होने के स्थान पर वैदिक सूत्रों को दिया है अतः वैदिक-खण्ड बहुत छोटा—प्रायः ५०० सूत्रों का ही है। इसे दीक्षित ने अन्त में रखा है, पाणिनि तो बीच-बीच में ही देते जाते हैं। हाँ वैदिक-स्वरों को उन्होंने एक स्थान पर ६।१।१५५ से आरम्भ करके पूरे दूसरे पाद तक रखा है। अष्टम अध्याय में भी कुछ सूत्र वेद से सम्बन्ध रखते हैं।

लौकिक-खण्ड स्वयं पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में बँटा है, पूर्वार्ध में सुबन्तों और उत्तरार्ध में तिङन्तों का विस्तृत व्याकरण है।

आरम्भ में महेश्वर-सूत्रों को देने के बाद संज्ञा का प्रकरण रखा गया है। महेश्वर-सूत्रों से प्रत्याहार बनाने की रीति बतला कर मुख्य संज्ञाओं के लक्षण इस प्रकरण में दिये गये हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी प्रथम अध्याय में मुख्य संज्ञायें ही आ सकी हैं। बाद में जब जिसकी आवश्यकता पड़ी उसका लक्षण दे दिया गया। यही रीति दीक्षित ने भी अपनाई है। परिभाषा प्रकरण में सूत्रों और उनके विनियोग को समझानेवाली मुख्य परिभाषाओं का संकलन किया गया है। चूंकि परिभाषायें बहुत से सूत्रों की अपेक्षा रखती है अतः यह प्रकरण अपेक्षाकृत कठिन हो गया है। यहाँ स्मरणीय है कि नागेश ने परिभाषाओं के तीन भेद किये हैं—वाचनिकी, ज्ञापकसिद्ध और न्यायसिद्ध। वाचनिकी परिभाषायें पाणिनि के द्वारा सूत्रों में या पतञ्जलि के द्वारा भाष्य में पूर्वाचार्यों के सूत्रों के रूप में उल्लिखित हैं। ये स्पष्ट-रूप से कही गई

हैं। ज्ञापकसिद्ध परिभाषाओं का अनुमान पाणिनि के सूत्रों की पदावली से होता है—पाणिनि इनकी सत्ता से परिचित रहे होंगे। न्यायसिद्ध परिभाषा के भी दो भेद हैं—लौकिकन्यायसिद्ध जो मनुष्यों के सामान्य अनुभव से मालूम होती हैं तथा शास्त्रीयन्यायसिद्ध जो न्यायशास्त्र या मीमांसाशास्त्र की विधियों से अनुमेय हैं। दीक्षित ने पाणिनि की परिभाषाओं के अलावे अन्य परिभाषाओं को भी लिया है। बीच-बीच में आवश्यकता के अनुसार ये परिभाषायें आती हैं। नागेश ने इनकी विवेचना अपने परिभाषेन्दुशेखर में की है।

इसके बाद सन्धिप्रकरण को पाँच भागों में बाँटा है। स्वरवर्णों की सन्धि अच्सन्धि में, स्वरवर्णों को अपने ही रूप में रह जाना प्रकृतिभाव में, व्यञ्जनों या स्वरों के पूर्व व्यञ्जनों की सन्धि हल्सन्धि में, स्वरों या व्यञ्जनों के पूर्व विसर्ग के विकार के रूप में होने वाली सन्धि विसर्गसन्धि में तथा सु आदि प्रत्ययों के लगने से होनेवाले विकार स्वादिसन्धि में (जो विसर्गसन्धि ही है) निरूपित हैं।

अब शब्दाधिकार का विस्तृत प्रकरण चलता है। शब्दों के रूपों को सिद्ध करने के लिए उन्हें अजन्त और हलन्त दो भागों में रखकर फिर प्रत्येक का तीन लिङ्गों में अलग-अलग रूप समझाया है—इस प्रकार छह भागों में शब्द-रूप समाप्त कर दिये जाते हैं। इनमें वर्णों के अनुक्रम पर पूरा ध्यान रखा गया है। स्वाभाविक क्रम से इसके बाद अव्ययों का संक्षिप्त विवरण देकर क्रमशः स्त्रीप्रत्यय और कारक प्रकरण दिया गया है क्योंकि सुबन्त शब्दों की विभिन्न विभक्तियों में रूप देने के बाद उन विभक्तियों की उपयोगिता बतलानी आवश्यक थी। तदनन्तर शब्दों के समस्त रूपों को समझाने के लिए समास का प्रकरण दिया गया जिसमें समास के चार भेदों—अव्ययीभाव, तत्पुरुष बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व—को समझाने के बाद सबका उपसंहार किया गया है और वहाँ एकशेष, सर्वसमासशेष, समासान्त-प्रत्यय, अलुक्समास के स्थान तथा समास पर आश्रित विधियों का विवेचन हुआ है। समासों का ऐसा विवेचन और विश्लेषण व्याकरण-शास्त्र में अद्वितीय है।

पाणिनि ने तद्धितों का विशद विधान किया है। ये सूत्र बड़े सरल हैं। इन

कुछ तो अर्थ और अधिकार बतलानेवाले हैं और कुछ प्रत्ययों के विधायक सूत्र हैं। दीक्षित ने इनकी विशालता देखकर वर्गीकरण के लिए अर्थों और अधिकारों का ही गला पकड़ा तथा इन्हें साधारण, अपत्यार्थक, रक्ताद्यर्थक, चातुरर्थिक, शैषिक आदि भागों में बाँट दिया—कुल १८ भेद हुए। अन्त में द्विरुक्त का प्रकरण देकर पूर्वार्द्ध समाप्त किया गया है।

पूरे उत्तरार्ध को दीक्षितजी ने धातुओं के विवेचन में लगाया है। सबसे पहले तिङन्त आये हैं। विभिन्न लकारों का वर्णन करने के साथ धातुओं के क्रमागत दस गणों—भ्वादि (शप्), अदादि (०), जुहोत्यादि (श्लु), दिवादि (श्यन्), स्वादि (श्नु), तुदादि (श), रुधादि (श्नम्), तनादि (उ), क्र्यादि (श्ना) और चुरादि (शप् णिच्)—इनकी विस्तृत रूप-सिद्धि की गई है। प्रायः २१०० धातुओं का विवरण इन्होंने दिया है। इसके बाद प्रत्ययान्त धातुओं का संकलन किया गया है जिसमें णिजन्त (प्रेरणार्थक), सन्नन्त (इच्छार्थक), यङ् और यङ्लुक् (पौनःपुन्यार्थक) तथा नामधातु (संज्ञा से क्रिया बनाने वाले प्रत्ययों—क्यच्, क्यङ्, णिच् का वर्णन) आते हैं। कण्ड्वादि धातुओं में ५० धातुओं का संकलन करके उपर्युक्त प्रत्ययों का एक स्थान पर प्रयोग दिखलाया गया है (प्रत्ययमाला)। पुनः आत्मनेपद और परस्मैपद के स्थानों का वर्णन करके तीन वाच्यों—कर्म, भाव और कर्मकर्तृ—का विवेचन हुआ है। लकारार्थों का वर्णन करके तिङन्त का प्रकरण समाप्त किया गया है।

कृदन्त-प्रक्रिया को चार भागों में बाँटा गया है—कृत्य, पूर्व कृदन्त, उणादि और उत्तर-कृदन्त। कृदन्तों में प्रायः पाणिनि का क्रम ही सुरक्षित रखा गया है। उणादि प्रत्यय के सूत्र तो अष्टाध्यायी से अलग हैं। कुछ लोगों के अनुसार ये पाणिनि के बनाये हैं, कुछ के अनुसार शाकटायन के। उन सभी सूत्रों का संग्रह दीक्षित ने कर लिया है जो संख्या में ७४८ हैं। पूर्वकृदन्त और उत्तरकृदन्त का भेद इन्होंने पाणिनि से ही लिया है। अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय के प्रथम-द्वितीय पादों में वर्णित प्रत्यय पूर्वकृदन्त में और तीसरे चौथे पादों में वर्णित उत्तरकृदन्त प्रकरण में रखे गये हैं।

वैदिकी प्रक्रिया में दीक्षितजी ने पाणिनि का ही आश्रय लिया। यहाँ

आठ अध्याय किये और अष्टाध्यायी के प्रत्येक अध्याय से संकलित सूत्रों को अपनी संख्या के अध्याय में रहने दिया। परिणाम यह निकलता है कि बिना अष्टाध्यायी-क्रम को देखे किसी सूत्र का अर्थ जानना कठिन हो जाता है। कोई विषयगत-विभाजन तो है नहीं, अतः अष्टाध्यायी वाली सारी कठिनाइयाँ आ जाती हैं। अष्टाध्यायी पढ़ने से वैदिक-प्रक्रिया को पृथक् पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। स्वरप्रक्रिया में साधारण स्वर, धातुस्वर और प्रातिपदिक स्वर का वर्णन करने के बाद फिट्सूत्रों में चले जाते हैं जो शान्तनवाचार्य की रचना है। चार पादों के ८७ सूत्रों में फिट्सूत्र हैं जो प्रातिपदिक शब्दों में स्वर-निर्देश की विधि बतलाते हैं। बाद में पाणिनि के आधार पर प्रत्ययस्वर, समासस्वर और तिङन्तस्वर का नियम बतलाकर सामान्य रूप से स्वर बैठाने की प्रक्रिया समझाई गई है। लिङ्गानुशासन के साथ सिद्धान्तकौमुदी समाप्त की गई है।

इस प्रकार अपने आकर-ग्रन्थ में व्याकरण-शास्त्र को पूर्णता तक पहुँचाने का अतुलनीय प्रयास दीक्षितजी ने किया है। कौमुदी अपनी टीका-सम्पत्ति से एक नवीन सम्प्रदाय ही स्थापित-सी करती है।

सिद्धान्तकौमुदी की वैदिकी प्रक्रिया कई विश्वविद्यालयों में एम्० ए० तथा संस्कृत-पाठशालाओं में शास्त्री (व्याकरण) की परीक्षाओं में निर्धारित है। इसके पृथक् संस्करण की बड़ी आवश्यकता थी। प्रकाशक महोदय एवं कतिपय मित्रों के आग्रह और अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से मैंने इसकी हिन्दी-व्याख्या लिखनी आरम्भ की और वीणा-पाणि की कृपा से सफल होता गया। व्याख्या में सभी-टीकाओं को गतार्थ करने की चेष्टा होते हुए भी विद्यार्थियों के मानसिक-स्तर का ध्यान काफी रखा गया है। व्याकरणशास्त्र के ऐसे प्रौढ़-ग्रन्थ को हिन्दी में रखने का दुस्साहस तो कर रहा हूँ परन्तु सज्जनों की अनपायिनी कृपा का आश्रय है—इससे सन्तोष भी है। कई स्थानों पर अत्यधिक संक्षेप और कहीं अधिक विस्तार हो गया है। इसका कारण यह है कि लेखक की मुद्रा (Mood) हमेशा समान नहीं रहती। फिर भी रूपों के साधन पर पूरा ध्यान दिया गया है। अपनी शक्ति भर मैंने समझाने की चेष्टा की है (I do as I can, not as I should.)।

सिद्धान्तकौमुदी में मुझे पहले-पहल प्रविष्ट करानेवाले अपने गुरु स्व० पं० वासुदेव मिश्रजी की दिवंगत आत्मा के प्रति मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। गर्मी के दिनों में प्रतिदिन प्रातःकाल जब मैं १॥ कोस की दूरी तयकर उनके पास पहुँचता तो वे वृद्धावस्था में रुग्ण होने पर भी मेरी श्रद्धा के वशीभूत होकर मुझे अपने अगाध ज्ञान का कुछ अंश अवश्य देते। दुःख है कि मैं उनसे केवल अच्सन्धि तक पढ़ पाया। एम्० ए० कक्षा में मुझे वैदिकीप्रक्रिया पढ़ने का सौभाग्य प्रो० सत्यदेव विद्यावाचस्पति, एम्० ए०, बी० एल्, साहित्याचार्य से हुआ जिनके समान अर्थावबोधक अध्यापक मुझे नहीं मिल सके।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज एवं चौखम्बा विद्याभवन संस्था के स्वत्वाधिकारी आदरणीय श्रीजयकृष्णदासजी गुप्त की कृतज्ञता का वर्णन क्या करूँ, जिन्होंने मुझे सदा प्रोत्साहन दिया है। आर्थिक दृष्टि से संकटपूर्ण वर्तमान युग में भी संस्कृत के परम प्राचीन अति दुर्लभ अप्राप्य ग्रन्थों के पुनर्मुद्रण की योजना के अन्तर्गत दो अतिव्ययसाध्य बृहत्तम रत्नभूत संस्कृत कोशग्रन्थों (श्रीराजाराधाकान्तदेव विरचित 'शब्दकल्पद्रुमः' तथा श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति विरचित 'वाचस्पत्यम्') का थोड़े समय के भीतर सर्वसुलभ अल्पतम मूल्य में प्रकाशन करके आपने संस्कृत साहित्य तथा संस्कृतज्ञों का जो हित किया है उसके लिये आप सभी की ओर से धन्यवादार्ह हैं। इस प्रकार मूल संस्कृत-वाङ्मय तथा उनके अनुवादों के प्रकाशन का जो व्रत आपने लिया है उसमें आपकी ईश्वर सदा सहायता करें—यही कामना है।

अपने कृपालु पाठकों के समक्ष मैं सदा अवनत हूँ तथा विद्वानों से आग्रह है कि वे मेरी इस कृति का अवलोकन कर मुझे इसकी त्रुटियों से अवगत करायें। यदि छात्रों ने इस व्याख्या शैली की महत्ता समझी, तो पूरी सिद्धान्तकौमुदी की हिन्दी-व्याख्या उपस्थित की जायगी।

॥ इति शम् ॥

२० जनवरी, १९६२
संस्कृत विभाग
राँची कालेज

निवेदक
उमाशंकरशर्मा 'ऋषि'

तृतीय संस्करण का निवेदन

प्रस्तुत संस्करण में व्यापक रूप से संशोधन-परिवर्धन किया गया है। यथा-सम्भव अशुद्धियों को दूर करके वैदिक उद्धरणों के संकेत दे दिये गये हैं। इस बीच में मेरे निर्देशन में एक शोध-कार्य—पाणिनि का वैदिक व्याकरण—सम्पन्न हुआ जिसकी सहायता भी प्रस्तुत पुस्तक के संशोधन में उपयोगी हुई है। वैदिक उद्धरणों के संकेत प्राप्त करने में मुझे डा० वीरेन्द्रकुमार वर्मा के ग्रन्थ 'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य—एक परिशीलन' से बड़ी सहायता मिली है।

कुल मिलाकर पूरी पुस्तक मूलतः वही रहने पर भी अधिक उपयोगी तथा परिष्कृत हो गयी है। आशा है, विद्वानों तथा सुधी छात्रों को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी लगेगी।

जहाँ-तहाँ कुछ भाषाशास्त्रीय विवेचन करने की इच्छा थी किन्तु 'ग्रंथ-विस्तर-भय' से ऐसा करना उचित नहीं लगा। विशेष कौतूहल रखने वाले पाठक पटना विश्वविद्यालय में पीएच्० डी० के लिए स्वीकृत उक्त शोध-प्रबन्ध का लाभ उठा सकते हैं जिसमें ध्वनि-विज्ञान, रूपविज्ञान और वाक्यविज्ञान की दृष्टि से पाणिनीय वैदिक व्याकरण का अनुशीलन है।

१६. ५. ८२
विद्यापुरी,
पटना—१६
(बिहार)

उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

कौमुदी-कलापः

प्राक्कथनम्

श्रीमति जगदाधारे पारावारे समस्तविद्यानाम् ।
गुरुवरपदकमलानां सारे क्रियतां मयासारः ॥ १ ॥
अलिकुलकलिततरूणां विकसितशाखासु मञ्जरी भाति ।
मधुरललितंपदभाजां वाचां काव्यान्विता गीतिः ॥ २ ॥
परमेषा कविभाषा दोषायैवायता यथा जाता ।
यदि फणिभाषितशास्त्रं नित्यं नालम्ब्यते सम्यक् ॥ ३ ॥
आसीन्मन्त्रसमूहो यज्ञादीनां विधानकलनाय ।
ऋग्वेदाद्यो वेद्यो लोकानां संहिता नाम ॥ ४ ॥
मन्त्राणां विनियोगाः प्रत्येकं ब्राह्मणेषु परिगीताः ।
येषां चिन्तनयोगाज्जाता सा कर्ममीमांसा ॥ ५ ॥
वेदान्तोपनिषत्सु प्रकृतं परमात्मतत्त्वजातं तु ।
वेदाङ्गान्यपि नूनं वेदार्थानां प्रकाशाय ॥ ६ ॥
शिक्षाच्छन्दोज्योतिर्व्याकरणं तन्निरुक्तशास्त्रं च ।
कल्पश्च सूत्रभूतः षड्वेदाङ्गानि जातानि ॥ ७ ॥
परमेषु व्याकरणं मुखभूतं मुख्यतां गतं युक्तम् ।
येनान्तरेण शास्त्रं किञ्चिन्नासारमाप्नोति ॥ ८ ॥
भाषेव प्राचीना सरणिर्जयेत शब्दविद्यायाः ।
ऋग्वेद एव लब्धः पदजातानां हि निर्देशः ॥ ९ ॥
शब्दानामधिकारो व्युत्पत्तिर्मध्यतश्च खण्डेन ।
पदरूपाण्यपि सम्यग्व्याख्यातुं शब्दविद्येयम् ॥ १० ॥
पूर्वा चिन्तनधारा हा हा अद्यानुमानविषयाऽभूत् ।
नाम्नापि शास्त्रकारा दृश्यन्ते नास्य कालस्य ॥ ११ ॥

यास्कप्रणीतशास्त्रे नैरुक्ते सम्प्रदायरूपेण ।
वैयाकरणाः केचिद् गीयन्ते पक्षकर्त्तारः ॥ १२ ॥
यास्कोऽपि शब्दशास्त्रे निष्णातस्तस्य पूरकं शास्त्रम् ।
प्रणिनायैवं निरुक्तं स्वयुगस्यादर्शभूतं यत् ॥ १३ ॥
गार्ग्यादयस्तु नाम्ना ख्यातिं गच्छन्ति साम्प्रतं लोके ।
तेषु शिरोमणिभूतः पाणिनिराचार्यतामेति ॥ १४ ॥
शालातुरस्य वासी दाक्षीपुत्रस्त्वनन्तविषयज्ञः ।
पदशास्त्रेऽभिनिविष्टः काञ्चिन्नूत्नां चरन्नीतिम् ॥ १५ ॥
यद्यपि पुरातनानामाचार्याणामृणी भवत्येषः ।
संहृत्य सर्वशास्त्राण्यपि सन्धत्ते नवं शास्त्रम् ॥ १६ ॥
अष्टाध्यायीग्रन्थो यस्य यशांसि प्रसारयँश्चरति ।
तुर्यंसहस्रं सूत्राण्यभिनवरूपाणि भान्त्यत्र ॥ १७ ॥
अष्टावत्राध्यायाः पादचतुष्टयनिबन्धनं प्राप्ताः ।
सर्वैरपि सुगमास्ते कण्ठस्थेयाश्च बोद्धव्याः ॥ १८ ॥
संक्षिप्तार्थशरीरं सूत्रं निर्दोषतां तथापन्नम् ।
तस्मिन्नहो विचित्रा संक्षेपे पाणिने रीतिः ॥ १९ ॥
प्रत्याहाराः प्रथमं शिवसूत्रालम्बिताः पुनर्भान्ति ।
अनुबन्धा विपुलार्था वर्णमया सूक्ष्मरूपास्ते ॥ २० ॥
तदनु गणानां पाठः सूत्रे ग्रहणं तु मुख्यशब्दस्य ।
लुक्श्लुलुपां विनियोगाः संक्षिप्तानां पदानां च ॥ २१ ॥
परमनुवर्तनयोगादधिकारेष्वेव सूत्रजालानाम् ।
अर्थस्याभिनिवेशः परिभाषाश्चापरास्तत्र ॥ २२ ॥
इत्थं पाणिनिसूत्रं स्वल्पाक्षरतः कृतं महासूक्ष्मम् ।
विज्ञानसरणिलम्बि ख्यातं सर्वाङ्गपूर्णं च ॥ २३ ॥
उत्सर्गैरपवादैस्सूत्रैश्शास्त्रं वृतं तथा मन्ये ।
एकाक्षरमपि यस्मिन्वैयर्थ्यं चेत्कथं यातु ? ॥ २४ ॥
यत्र प्रथमाध्याये मुख्याः संज्ञास्तथा च परिभाषाः ।
आत्मपरस्मैपदयोर्निर्देशः कारकाणां च ॥ २५ ॥

व्याख्याताश्च समासा अपराध्याये विभक्तय: सर्वा: ।
अन्ते खल्वादेशा: संक्षेपाल्लोपकार्याणि ॥ २६ ॥
धातो: प्रत्ययोगा: कृत्याश्चैवं कृतस्तिङश्चापि ।
संवादितास्तृतीये योज्यस्थानैस्समं सर्वे ॥ २७ ॥
तुर्ये स्त्रियोऽधिकार: परमेते तद्धिता: समादिष्टा: ।
आपश्चमात्तथान्ते सम्पद्यन्ते समासान्ता: ॥ २८ ॥
मध्येप्रकृति हि षष्ठे कार्यसमूहस्तथा स्वराख्यानम् ।
अत्रैव भाधिकारोऽसिद्धार्थ: प्रायशोऽस्यान्ते ॥ २९ ॥
कार्यं प्रत्ययहेतो: प्रकृतेश्चापीह सप्तमे ख्यातम् ।
द्वित्वं तथानुदात्तं चाद्ये पादेऽष्टमेऽध्याये ॥ ३० ॥
पूर्वं प्रति त्रिपादी याऽन्त्या साऽसिद्धरूपतामेति ।
यत्र प्लुतादिपूर्वं निर्दिष्टं संहिताकार्यम् ॥ ३१ ॥
अष्टाध्यायीरचना नूतं रत्नं तु शब्दशास्त्रस्य ।
मुग्धा: सन्ति यदग्रे सर्वे भाषाप्रवीणा हि ॥ ३२ ॥
पाणिनिकालिकभाषा किञ्चित्परिवर्त्तनं समासाद्य ।
लब्धवती व्याकरणं वृत्तौ कात्यायनस्यैव ॥ ३३ ॥
तेन प्रणीतमास्ते प्रथमं तु प्रातिशाख्यनामैतत् ।
शिक्षाग्रन्थो यस्मिन्पदशास्त्रं शुक्लयजुषोऽस्ति ॥ ३४ ॥
आलोचितानि सम्यक्पाणिनिसूत्राणि कानिचन नाम ।
परिवृत्तिवृद्धियुक्तं परमस्मिन्वार्तिके ग्रन्थे ॥ ३५ ॥
गद्यमयी सा वृत्ति: श्लोक: संवेशितस्तथा स्थाने ।
एवं सूत्रसमाना: संख्यायां वृत्तयस्तस्य ॥ ३६ ॥
प्रामाण्यमस्य पूर्वाचार्यापेक्षं हि सत्यमुत्कृष्टम् ।
किन्तु पतञ्जलिभाष्ये सम्यक्संशोधिता वृत्ति: ॥ ३७ ॥
पातञ्जलं तु भाष्यं पदशास्त्रस्याखिलानथो पक्षान् ।
शङ्कासमाधिपूर्वान्वितरां साधु प्रकाशयति ॥ ३८ ॥
कात्यायनप्रहारात्पाणिनिसूत्राणि सर्वतस्त्रातुम् ।
तानि तथा व्याख्यातुं प्रादुर्भूतं महाभाष्यम् ॥ ३९ ॥

पाटलिपुत्रनिवासी पौरोहित्यं स पुष्यमित्रस्य ।
कृतवानार्यपतञ्जलिराचार्य्यः शब्दविद्यायाः ॥ ४० ॥
भाषा यस्य सुसरला लघुवाक्यं चासमस्तपदजातम् ।
स्वल्पमतीनामपि यद् भाष्यं सुगमं प्रतीयेत ॥ ४१ ॥
पाणिनिकात्यायनयोः पतञ्जलेश्चापि सङ्घयोगेन ।
त्रिमुनि व्याकरणं यद् विभाति शब्दानुशिष्टयर्थम् ॥ ४२ ॥
इत्थं पाणिनिशास्त्रे प्रथमः कालोऽवसानमुपयाति ।
यस्मिन् किल शास्त्रीयाः सिद्धान्ता निश्चिता जाताः ॥ ४३ ॥
ग्रन्थानामेतेषां व्याख्याकालोऽगमत्पुनस्तत्र ।
बौद्धाचार्यश्चन्द्रो व्याकरणं नूतनं कृतवान् ॥ ४४ ॥
यस्मिन्भाष्यानन्तरकाले जातानि शब्दरूपाणि ।
संवेशितानि सम्यग्बौद्धानामेव पाठाय ॥ ४५ ॥
पश्चात्प्रणीतवन्तौ पाणिनिवृत्तिं तु काशिका नाम ।
यन्नूतनतां नीत्वाऽऽचार्यौ वामनजयादित्यौ ॥ ४६ ॥
सूत्राणामिह टीका सुस्पष्टा सारगर्भिता रम्या ।
अनुवृत्त्यादिसमेता वलिता चन्द्रस्य योगैश्च ॥ ४७ ॥
एषा भाष्यसमाना वैपुल्ये सूचनादिदाने च ।
परमतिसुगमा बालो प्रौढो वाऽऽनन्दमाप्नोति ॥ ४८ ॥
धन्यौ तौ विद्वांसौ व्याकरणे दिव्यकाशिकाकारौ ।
आसीद्ययोः प्रवीणा शास्त्रे सर्वेक्षिका बुद्धिः ॥ ४९ ॥
यदि पाणिनिसूत्राणामर्थज्ञाने सहायकः कश्चित् ।
जानामीह समन्तान्नूनं सा काशिकावृत्तिः ॥ ५० ॥
अस्मिन्नेव शताब्दे भर्तृहरिः काव्यकारपदशास्त्री ।
भाष्यस्य सेतुटीकामद्यालब्धामरचयत्सः ॥ ५१ ॥
अपरं वाक्यपदीयं व्याकरणस्यैव दर्शनं तनुते ।
काण्डत्रयं हि तस्मिन्नागमवाक्यप्रकीर्णाख्यम् ॥ ५२ ॥
पुनरागच्छति बौद्धो वैयाकरणो जिनेन्द्रबुद्धिस्तु ।
कृतवान्विवरणपञ्जिकनाम्ना यः काशिकाटीकाम् ॥ ५३ ॥

भाषायां परिवर्तनमखिलं प्रादर्शि कालतस्तेन ।
टीका तस्य विशाला न्यासो नामास्य विख्यातम् ॥ ५४ ॥

पदमञ्जरीति नाम्नी हरदत्तस्यापि काशिकाटीका ।
विदुषामेव कृतेऽसावतिगम्भीरा प्रसन्नापि ॥ ५५ ॥

कश्मीरस्य निवासी कैय्यटनामा बुधेन्द्रकुलजातः ।
भाष्यव्याख्यां कृतवान्नव्यप्रौढां प्रदीपाख्याम् ॥ ५६ ॥

एतेन किन्तु साकं कालो ह्यालोचनस्य टीकायाः ।
सम्यग्गतोऽवसानं शास्त्रव्याख्यानरूपोऽसौ ॥ ५७ ॥

परिणतवत्यथ काले पाणिनिसूत्रक्रमो निजप्रकृतेः ।
कौमुद्यादिषु कलया कृतवान्पूर्णं परित्यागम् ॥ ५८ ॥

प्रथमे संस्कृतमासीत्काले लोकप्रयोगमुपयातम् ।
यत्र त्रिमुनिकृतेषु ग्रन्थेष्वासीन्नवीनत्वम् ॥ ५९ ॥

भाषायां परिवर्तितरूपाण्यखिलानि दर्शितान्येतैः ।
इति परिवर्द्धनरूपं तेषामासीदुपादानम् ॥ ६० ॥

मध्ये काले भाषा प्राकृतरूपा बभूव बहुभेदा ।
संस्कृतमासीद्विदुषां व्यवहारेष्वेव विनियुक्तम् ॥ ६१ ॥

लिख्यन्ते किल यस्मिन्छास्त्रं काव्यं च दर्शनादीनि ।
तेषामुपकाराय व्याख्या ह्याख्यायते तत्र ॥ ६२ ॥

एतावन्तं समयं व्याकरणं साधनार्थमुपयुक्तम् ।
शिष्टप्रयुक्तभाषा येनाधिकृता भवेदेव ॥ ६३ ॥

परमस्मिन्निव काले साध्यत्वेनात्र भर्तृहर्य्याद्याः ।
कृतवन्तो व्याकरणं शास्त्रार्थानामुपस्कारात् ॥ ६४ ॥

टीकाया अपि टीका शास्त्रेष्वन्येष्विवात्र विहिताऽभूत् ।
व्याकरणं शास्त्रत्वादप्यधिकां कोटिमापन्नम् ॥ ६५ ॥

सूत्राणां क्रमभङ्गो विषयाणां भागतः पुनस्तेषाम् ।
संयोजना तदाऽभूत्संज्ञासन्ध्यादिरूपेण ॥ ६६ ॥

प्रत्याहारप्रभृतीन्विषयानालम्ब्य सूत्रवृत्तिमयी ।
विमलसंरस्वतिरचना प्रथमासीद्रूपमाला सा* ॥ ६७ ॥
यामाश्रित्य तृतीये काले वृक्षाः फलैर्दलैर्वलिताः ।
कौमुद्याद्याः सकला अष्टाध्यायीं प्रहर्तारः ॥ ६८ ॥
पश्चादनया रीत्या वहुविषयज्ञो धृतातुलप्रज्ञः ।
श्रीरामचन्द्र एवारचयत्तां प्रक्रियापूर्वाम् ॥ ६९ ॥
तां कौमुदीमनेके काले काले विभिन्नटीकाभिः ।
उपकृतवन्तो नितरां वैयाकरणास्तु विद्वांसः ॥ ७० ॥
विशदयितुं प्रहितानां, विवुधानां दिव्यकौमुदीमेनाम् ।
राजति परं प्रसादव्याख्यायां विट्ठलाचार्य्यः ॥ ७१ ॥
भट्टोजेरपि गुरवो विद्वद्धौरेयशेषकृष्णाख्याः ।
व्याख्यां प्रकाशनाम्नीं कृतवन्तः कीर्त्तिलाभाय ॥ ७२ ॥
तस्मिन्नेव सुकाले शिष्यो विप्रस्य शेषकृष्णस्य ।
यशसा भासितभूमिर्भट्टोजिर्दीक्षितोपाधिः ॥ ७३ ॥
बहुपुस्तकनिर्माता कृतवान्सिद्धान्तकौमुदीमेषः ।
पाणिनिरेव ययाऽभूदुत्खातस्तस्य वैदुष्या ॥ ७४ ॥
इयमास्ते कण्ठस्था व्यर्था श्रान्तिर्भवेन्महाभाष्ये ।
यदि नेयं कण्ठस्था भाष्याधीतिस्तथा व्यर्था ॥ ७५ ॥
इति लोकानामुक्तिर्दीक्षितसंवीक्षणं सदा कुरुते ।
वस्तुत एष नवीनं मार्गं लोकाय सन्धत्ते ॥ ७६ ॥

*विमलसरस्वतिकृतायां रूपमालायां विषयविभागस्त्वित्थम्—(१) प्रत्याहाराः, (२) संज्ञाः, (३) परिभाषाः, (४) स्वरसन्धिः, (५) प्रकृतिभावः, (६) व्यञ्जनसन्धिः, (७) विसर्गसन्धिः, (८) नाममाला—अजन्तमाला, हलन्तमाला, सर्वनाममाला, संख्याभाग., अनियतरूपमाला (सखिपत्यादीनाम्), वैदिकरूपाणि, (९) निपाताः, (१०) स्त्रीप्रत्ययाः, (११) कारकम्, (१२) आख्याताः लकारक्रमेण विभक्ताः, (१३) लकारार्थमालाः, (१४) तङादिनियमभागः=आत्मने० परस्मै० (१५) कृत्प्रकरणम्. (१६) तद्धिताः, (१७) समासा, नूनमेतया पाणिनिसूत्रक्रमभङ्गकारिणीनां कौमुदीनां बीजोत्सर्जिता दिग्निर्देशश्च तासां कृते कृतः । (ऋषिः)

संक्षिप्तालोचनया पाणिनिसूत्रक्रमः स्वके ग्रन्थे ।
सौविध्येन निजस्य स्थापितवान्कौमुदीकारः ।। ७७ ।।
पुनरेतस्याष्टीकां विस्तृतरूपां मनोरमानाम्नीम् ।
भट्टोजिरेव कृतवान्स्वाभिप्रायप्रकाशाय ।। ७८ ।।
नागेशेन कृतास्या अपि टीका शब्दरत्ननाम्नैव ।
हरिदीक्षिते गुरौ सा सादरमारोपिता किन्तु ।। ७९ ।।
अपरं श्रीभट्टोजिर्ग्रन्थं तच्छब्दकौस्तुभो नाम ।
पाणिनिसूत्रव्याख्यामकरोन्नूनं यथाशास्त्रम् ।। ८० ।।
यश्च महाभाष्यादपि नितरां गम्भीरतां विशालत्वम् ।
भजति निरन्तरधीरा शैली यस्य प्रजागर्त्ति ।। ८१ ।।
परिभाषेन्दुं कृतवाँल्लघुशब्देन्दुं च शेखरोपाख्यम् ।
नागेशोऽनपरः खलु टीकाकारो महाविद्वान् ।। ८२ ।।
कैय्यटकृतप्रदीपे चोद्योताख्यां विवृत्तिमथ कृत्वा ।
स्थानमरक्षच्छायाटीकायै वैद्यनाथस्य ।। ८३ ।।
कौमुद्याः संक्षेपा लघुकौमुद्यां च मध्यकौमुद्याम् ।
बालहितार्थं रचिता ग्रन्थाः श्रीवरदराजेन ।। ८४ ।।
इत्थं पाणिनिशास्त्रं कालत्रितये विभक्तमुपगीतम् ।
यस्मिन्संस्कृतभाषामध्येतुं प्रक्रमो दृष्टः ।। ८५ ।।
सम्प्रति रीतिद्वितयी व्याकरणस्यैव पाणिनेरस्ति ।
केचित्प्राचीनं वाऽप्यर्वाचीनं मतं दधति ।। ८६ ।।
बालेऽध्ययनारम्भेऽधीत्यामूलं तु कौमुदीग्रन्थम् ।
तदनु समस्ताष्टीकास्तस्यैवाधीयते केचित् ।। ८७ ।।
ते खलु नव्याचार्या व्याकरणाचार्यतां वहन्तोऽपि ।
आधारभूमिशून्याः प्राचीरास्तु प्रतीयन्ते ।। ८८ ।।
अष्टाध्यायीग्रन्थे सूत्राणां कः क्रमः समादिष्टः ?
नावैति यत्र विद्वानाचार्योऽयं कथं कथितः ?।। ८९ ।।
वृत्त्युद्घोषणकालो यदि संक्षिप्येत का तदा हानिः ।
इति विमृशन्तः केचित्प्राचीनां रीतिमीहन्ते ।। ९० ।।

अष्टाध्यायीं प्रथमं वृत्तिज्ञानाय काशिकां तदनु ।
भाष्यं ततश्च पश्चाज्ज्ञात्वा सम्यग्भवेद् विद्वान् ।। ९१ ।।
रीतिरियं परमासीदासीत्संस्कृतमयी यदा भाषा ।
लोकावश्यकताया अनुसर्ता कौमुदीग्रन्थः ।। ९२ ।।
शब्दानामुपयोगो रचना चास्तेऽधुना सुदातव्या ।
कर्मण्यस्मिन्सफला बहुमन्या कौमुदी ह्येव ।। ९३ ।।
अष्टाध्याय्यां सम्यग्यद्यभ्यासो न वर्त्तते विदुषः ।
तावत्तु शब्दरचने सूत्रस्यान्वेषणं वज्रम् ।। ९४ ।।
यदि कौमुद्या साकं पाणिनिमूलं प्रदर्श्यन्ते गुरुभिः ।
उभयोरेव सुरीत्योः सन्धिः स्वर्णे सुगन्धिश्च ।। ९५ ।।
एकस्यैव पितुर्यत्पुत्रः पौत्रश्च भिन्नकर्माणौ ।
भवतस्तदा समेषां कर्त्तव्यः सन्धियोगो हि ।। ९६ ।।
न विवादेन फलं स्यान्नव्यप्राचीनवर्त्तने चोभे ।
भवतां परस्परं चेत्पूरण्यावेकतो ह्यपरा ।। ९७ ।।
भारतवर्षस्येदं पदशास्त्रं गौरवाय किल जातम् ।
भाषाशास्त्रहितार्थः पाणिनिरेव प्रभापूर्णः ।। ९८ ।।
तस्मिन्मूले गन्तुं कौमुद्याद्याः सुशाखयाध्येयाः ।
शास्त्रोल्लङ्घनमत्राशङ्क्येयं नैव विद्वद्भिः ।। ९९ ।।
बहुशाखाफलपुष्पाण्यपि मेदिन्यां सहर्षमुत्पाद्य ।
मार्गप्रवर्त्तकोऽसौ पाणिनिरार्यः सदा जयति ।। १०० ।।
अस्मिन्नार्याशतके पाणिनिशास्त्रस्य वृत्तमुपगीतम् ।
ऋषिणा स्वविनोदाय क्रियतां सद्भिस्त्विहासारः ।। १०१ ।।

मकरसंक्रान्तिः
२०१८ वि० ।

उमाशंकरशर्मा 'ऋषि'

॥ श्रीः ॥

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

वैदिकी प्रक्रिया

प्रथम अध्याय

[वचन-व्यत्यय—'घि'-संज्ञा में अनियम—'भ' और 'पद' संज्ञाओं में अनियम—उपसर्ग—कित् का विषय ।]

(१) **छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्** (१।२।६१)। द्वयोरेकवचनं वा स्यात्—पुनर्वसुः नक्षत्रं, पुनर्वसू वा । लोके तु द्विवचनमेव ॥

(२) **विशाखयोश्च** (१।२।६२) । प्राग्वत् । विशाखा नक्षत्रं, विशाखे वा ॥

(१) वेद में 'पुनर्वसु' शब्द द्विवचन के अतिरिक्त एकवचन भी होता है किन्तु लोक (संस्कृत) में सदा द्विवचन ही रहता है। इसलिए वेद में 'पुनर्वसुः' (ए० व०) तथा 'पुनर्वसू' (द्वि० व०) दोनों प्रयुक्त हैं, किन्तु नक्षत्र का बोध होने पर ही ऐसा होता है और लोक में तो द्वि० व० ही सिद्ध है । वस्तुतः 'पुनर्वसु' दो नक्षत्रों का जोड़ा है और सदा साथ देखे जाने से ही द्वि० व० में प्रयुक्त है ।

(२) विशाखा नक्षत्र भी ए० व० तथा द्वि० व० दोनों हैं—'विशाखा' (ए० व०) 'विशाखे' (द्वि० व०) । लोक में सदा द्वि० व० होता है ।

पुनर्वसु तथा विशाखा दोनों पृथक्-पृथक् नक्षत्र-युग्म के बोधक हैं । वैदिक काल में ज्यौतिष-विज्ञान इस स्थिति में नहीं पहुँचा था कि दोनों को नक्षत्र-युग्म के रूप में जान सके । एकवचन तथा बहुवचन का संशय बने रहने के कारण विकल्प था । संस्कृत भाषा के उद्भव काल में युग्मता का निर्धारण हो गया, इसीलिए द्विवचन रूढ़ हो गया ।

(३) षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा (१।४।९)। षष्ठ्यन्तेन युक्तः पति-शब्दश्छन्दसि घिसञ्ज्ञो वा स्यात्—क्षेत्रस्यं पतिना वयम् (ऋ० ४।५७।१)। इह वेति योगं विभज्य छन्दसीत्यनुवर्तते। तेन सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः। 'बहुलं छन्दसि' इत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः॥

पाणिनि से सुविधा के लिये इकारान्त और उकारान्त शब्दों को जो स्त्रीलिंग (नदी-संज्ञक) न हों, 'घि' संज्ञक माना है किन्तु इसमें 'सखि' शब्द शब्द नहीं है तथा 'पति' शब्द केवल समास में ही 'घि' होता है, अकेला नहीं (शेषो घ्यसखि, पतिः समास एव १।४।७–८)। वैदिक भाषा में 'पति' शब्द अकेला भी षष्ठी-विभक्ति वाले पद के साथ रहने पर 'घि' होता है। घि-संज्ञा होने पर 'पति' शब्द का रूप मुनि शब्द के समान चलता है। 'घि' होने से आङ् (टा, तृतीया ए० व०) के स्थान में 'ना' होता है जैसे 'मुनिना' (आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०)। पति का 'घि' न होने से 'पत्या' (पति+आ) वनता है परन्तु 'क्षेत्रस्य' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ 'घि' बन जाने से यह भी 'पतिना' हो गया है।*

इस सूत्र में योग-विभाग किया जाता है–'वा' इस शब्द को पृथक् सूत्र माना जाता है। पुनः 'छन्दसि' की अनुवृति करने पर अर्थ होता है कि वैदिक भाषा में सभी विधान (व्याकरण के नियम) वैकल्पिक होते हैं। ऐसी स्थिति में 'बहुलं छन्दसि' इत्यादि सूत्र व्यर्थ नहीं होते, अपितु इसी के प्रपञ्च अर्थात् विस्तृत रूप माने जाते हैं।

'यचि भम्' (१।४।१८)। **वा०—नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसङ्ख्यानम्।** नभसा तुल्यं नभस्वत्, भत्वाद् रुत्वाभावः। अङ्गिरस्वदङ्गिरः। (ऋ० १।३१।१७) मनुष्वदग्ने (ऋ० १।३१।१७)। 'जनेरुसिः' (उ० सू० २७२) इति विहित उसिप्रत्ययो मनेरपि बाहुलकात्।

वा०—वृषण्वस्वश्वयोः। वृष वर्षकं वसु यस्य स वृषण्वसुः। वृष अश्वो यस्य स वृषणश्वः। इहान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वे सति नलोपः प्राप्तो भत्वाद्वार्यते। अत एव 'पदान्तस्य' (८।४।३७) इति

---

* तुलनीय—सीतायाः पतयेनमः (रामरक्षास्तोत्र)।

णत्वनिषेधोऽपि न। 'अल्लोपोऽन:' (६।४।१३४) इति अल्लोपो न, अनङ्गत्वात् ॥

अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के अन्तिम पाद में 'भ' और 'पद' संज्ञाओं का अधिकार चला है। इसके अनुसार कोई भी शब्दरूप 'पद' या 'भ' होता है। यद्यपि विभिन्न अर्थों में पद-संज्ञा के लिए विभिन्न सूत्र हैं परन्तु भ के साथ विचार होने पर 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१।४।१७) का ही बोध होता है। सामान्य रूप से यही अभिप्राय है कि प्रथमा के तीनों वचनों तथा द्वितीया विभक्ति के पहले दो वचनों (सुट् जो नपुंसक न हो) को छोड़कर 'सु से लेकर कप्' (पंचमाध्याय) तक के प्रत्यय लगने पर पूर्व शब्दरूप पद कहलाता है, किन्तु इसी में यकार से आरम्भ होने वाले या स्वरादि प्रत्यय (य्+अच्) के लगने पर पूर्व शब्दरूप भ कहलायेगा, पद नहीं (यचि भम् १।४।१८)—यह संस्कृत का दृढ़ नियम है। शब्द-निर्माण की प्रक्रिया में कोई शब्दरूप या तो पदसंज्ञक होता है या भ-संज्ञक। कोई शब्दरूप दोनों नहीं हो सकता (आकडारादेका संज्ञा १।४।१)। भसंज्ञा परवर्तिनी है अतः पदसंज्ञा को वाधित करती है। राजन्+शस् (द्विती० बहु०) में राजन् भ है; राजन्+भिस् (तृ० वहु०) में वही शब्द पद है।

वैदिक भाषा में इन दोनों संज्ञाओं के अधिकार क्षेत्र में शैथिल्य पाया जाता है। यही कारण है कि नभस्, अङ्गिरस् और मनुष् शब्द वति प्रत्यय के लगने पर जहाँ संस्कृत में पद कहलाते और 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से सकार को रु करके 'हशि च' (६।१।११४) के द्वारा रु को उ बनाने पर नभोवत् इत्यादि रूप होते, वहाँ वेद में इन्हें भ मानकर रु का रास्ता ही रोक देते हैं। अत एव रूप हुआ—नभस्वत्=आकाश के समान। 'वति' प्रत्यय तुल्य के अर्थ में होता है (तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११५)। उसी तरह अङ्गिरस्वत और मनुष्वत् बने। मनुष् की रचना जनुष् के समान हुई है जिसमें उणादि का उसि प्रत्यय लगता है। यह बाहुलक से होता है जिसका अर्थ है नियम का कई प्रकार से उल्लंघन। वैयाकरणों की उक्ति है—

> क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
> विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

तात्पर्य यह है कि 'उसि' प्रत्यय न केवल पूर्वनियत जन् धातु से हो, अपितु मन् से भी।

वृषन् शब्द भी वसु और अश्व के पूर्व भ होता है। जिसके पास कामनाओं का पूरक हो, वह व्यक्ति 'वृषण्वसु' है, जो बैल को घोड़े-सा प्रयुक्त करे 'वृषणश्व' है। यहाँ वृषन् सु+वसु सु करने पर सु का सहारा लेकर (जो लुप्त हो गया है) वृषन् को पद कर देते और 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) के द्वारा न् का लोप हो जाता जैसा कि संस्कृत में वृषवसुः, वृषाश्वः होता है। परन्तु स्पष्टतया इसे भ स्वीकार कर लेने से वह सोचना व्यर्थ ही है। चूंकि यह पद नहीं है, भ है अत एव 'पदान्तस्य' के द्वारा होने वाला णत्वनिषेध भी नहीं होगा—ण रहेगा ही। 'अल्लोपोऽनः' के द्वारा अङ्ग भ का (जो अन् से अन्त होता हो) अ लुप्त हो जाता है (जैसे राजन्+टा या आ=राज्न् आ=राज्ञा) किन्तु यहाँ तो केवल भ की बात है। कोई प्रत्यय न होने से अङ्गाधिकार तो नहीं है (यस्मात्प्रप्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३)।

(४) **अयस्मयादीनि च्छन्दसि** (१।४।२०)। एतानि छन्दसि साधूनि। भपदसंज्ञाधिकाराद् यथायोग्यं संज्ञाद्वयं बोध्यम्। तथा च वार्त्तिकम्—'**उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यम्**' इति। 'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन' (ऋ० ४।५०।५)। पदत्वात्कुत्वम्, भत्वाज्जश्त्वाभावः, जश्त्वविधानार्थायाः पदसंज्ञाया भत्वसामर्थ्येन बाधात्। 'नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु' (ऋ० १०।७१।५) अत्र पदत्वाज्जश्त्वम्, भत्वात् कुत्वाभावः॥

वेद में अयस्मय आदि शब्द भी भ-संज्ञा से ही सिद्ध होते हैं। पद होने से तो अयस् (लोहा)+मयट् जोड़ने पर रु और उ होकर अयोमय होगा जैसा लोक में सिद्ध है। रु चूंकि पदान्त स् का होता है इसलिये यहाँ भ मानने पर नहीं होगा और अयस्मय शब्द सरलता से बन जायगा। इस सूत्र में भ और पद दोनों संज्ञाओं का अधिकार होने से अन्य शब्दों की सिद्धि में स्थिति के अनुसार दोनों संज्ञायें मान लें। इसलिये वार्तिककार कहते हैं कि (अयस्मय आदि शब्दों की सिद्धि में) दोनों संज्ञायें होंगी।

उदाहरण—(१) ऋक्वता (अर्चन-मन्त्रों से युक्त गण के द्वारा)। यहाँ ऋच्+वत्-प्रत्यय (मतुप् के म् का व्) है। ऋच् पद है, अतः 'चोः कुः' (८।२।३०) सूत्र से इसके च् का क् हो गया। किन्तु पद के कारण क् के ग् में परिवर्तन की भी अनिवार्यता है (झलां जशोऽन्ते ८।२।२९) इसे जश्त्व कहते हैं (अर्थात् तृतीय वर्ण में परिवर्तन) किन्तु वैदिक प्रयोग तो ऋग्वत् नहीं, ऋक्वत् है। अतः अब भसंज्ञा मानकर जश्त्व को रोका गया इस प्रकार दोनों संज्ञाओं की आवश्यकता होती है। तृतीया एकवचन में 'ऋक्वता' बना है।

(२) वाजिनेषु (वाणी के कठिन स्थलों में)। यहाँ वाच्+इन की सन्धि है। वाच् पद है। इसके च् का ज् (जश्त्व) हो गया किन्तु तदनन्तर ज् का ग् कर देने वाली पदसंज्ञा को रोककर भ संज्ञा मान ली गयी जिससे 'वाजिन' बना। सप्तमी बहु० में 'वाजिनेषु' बना। ये दोनों मन्त्रांश बृहस्पति-सूक्त के हैं।

'ऋक्वता' की सिद्धि में जश् (तृतीय वर्ण में परिवर्तन) का विधान करने वाली पद संज्ञा को भ संज्ञा रोक देती है क्योंकि 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) के अनुसार पद के बाद में विहित होने से भ बलवान् है। इस तरह किसी शब्द की सिद्धि में यथायोग्य दोनों संज्ञायें लगती हैं।

(५) ते प्राग्धातोः—छन्दसि परेऽपि (१।४।८०-८१)।

(६) व्यवहिताश्च (१।४।८२)। 'हरिभ्यां याह्योक आ' (ऋ० (७।३२।४)। 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि' (ऋ० ३।४५।१)।

लोक में गति और उपसर्ग धातु से पूर्व होते हैं जैसे आगच्छति, किन्तु वेद में धातु के बाद भी होते हैं जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'आ' उपसर्ग का सम्बन्ध 'याहि' से है (आयाहि) किन्तु दोनों के बीच में 'ओकः' शब्द तो है ही, उपसर्ग (आ) क्रियापद (याहि) के बाद आया है। वैदिक भाषा में इस प्रकार संस्कृत से भिन्नता है। वैदिक युग में उपसर्ग को पृथक् पद मानकर उसकी वाचकता पर बल था, इसीलिए उसे कियापद से पृथक् रखते थे। वे दोनों कई शब्दों के द्वारा व्यवहित भी रह सकते थे जैसे 'आ' और 'याहि' के बीच तीन शब्द आये हैं—मन्द्रैः, इन्द्र और हरिभिः।

(७) **इन्धिभवतिभ्यां च** (१।२।६)। आभ्यां परोऽपित् लिट् कित् स्यात्। 'समीधे दस्युहन्तमम्' (ऋ० ६।१६।१५)। 'पुत्र ईंधे अथर्वणः' (ऋ० ६।१६।१४)। बभूव। इदं प्रत्याख्यातम्। 'इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां लिटः किद्वचनानर्थक्यम्' इति॥

इन्ध् (जलाना) और भू (होना) धातुओं के बाद (अपित्—तिप्, सिप्, मिप् से भिन्न) लिट् लकार के प्रत्यय कित् होते हैं। इन्ध् में लिट् लगने पर कित् होने से गुण का निषेध (क्ङिति च १।१।५) होगा तथा न् का लोप भी (अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४) हो जायगा और 'इधे' रूप होगा। गुणनिषेध से 'बभूव' भी हुआ। संस्कृत में 'ईहाञ्चक्रे' की तरह का रूप होता 'इन्धाञ्चक्रे' (इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३।१।३२)।

ईंधे, समीधे—ञिइन्धी दीप्तौ (रुधादि १५४२) धातु से लिट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन आत्मनेपद प्रत्यय 'त' लगा है जिसके स्थान पर 'एश्' आदेश हुआ (लिटस्तझयोरेशिरेच् ३।४।८१)। अनुबन्धों का लोप होने पर—इन्ध्+ए। लिट् में द्वित्व होगा, न् का लोप होगा—इ इध्+ए=ईधे। सम् उपसर्ग के साथ 'समीधे' (=प्रदीप्त कर चुका)। दीक्षित जी के अनुसार यह यह सूत्र व्यर्थ है क्योंकि इन्ध् धातु तो केवल वेद के ही लिये है जहाँ आम् का प्रयोग नहीं होता (कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ३।१।३५) परन्तु 'छन्दस्युभयथा' (३।४।११७) के द्वारा लिट् को भी सार्वधातुक मानकर ङित् (सार्वधातुकमपित् १।२।४) करके न् का लोप हो जायेगा। दूसरे, भू में वुक् नित्य ही होता है अतः गुण-वृद्धि का निषेध भी होगा (देखिये—'भूवो वुग्लुङ्लिटोः' पर दीक्षित—नित्यत्वाद् वुग्गुणवृद्धी बाधते)। अतः इन दोनों से लिट् में कित् का विधान करना व्यर्थ है। यह दीक्षित-शैली का परिचय देने वाली फक्किका है। इस सूत्र की आवश्यकता पर महाभाष्य में भी आक्षेप किया गया। मूल में उद्धृत वार्तिक (इन्धेश्छन्दोविषय० इत्यादि) की व्याख्या पतञ्जलि करते हैं कि इन दोनों धातुओं से कित् का निर्देश करना व्यर्थ है। कैयट ने स्पष्ट कहा है—विनापि सूत्रेणेष्टं सिध्यति, सत्यपि चेष्टं न सिध्यति।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीय अध्याय

[विभक्ति में अनियम—द्वितीया, तृतीया, षष्ठी—घसादेश—समास में पूर्ववत् लिङ्ग—शप्, श्लु में अनियम—च्लि (लुङ्) का लोप ।]

(८) तृतीया च होश्छन्दसि (२।३।३)। जुहोतेः कर्मणि तृतीया स्याद् द्वितीया च। 'यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति'। अग्निहोत्रशब्दोऽत्र हविषि वर्तते, 'यस्याग्निहोत्रमधिश्रितममेध्यमापद्येत' इत्यादिप्रयोग-दर्शनात्, 'अग्नये हूयते' इति व्युत्पत्तेश्च। यवाग्वाख्यं हविः देवतोद्देशेन त्यक्त्वा प्रक्षिपतीत्यर्थः।

हु (=दान और भोजन) धातु के कर्म में द्वितीया (लोक के समान) तथा तृतीया भी होती है जैसे—'यवाग्वा (यवागू-रूप) अग्निहोत्रं (हव्य को) जुहोति (प्रदान करता है)।' यहाँ यवागू अग्निहोत्र का विशेषण है किन्तु उसमें कर्मकारक होने पर भी तृतीया विभक्ति लगी है। 'अग्निहोत्र' शब्द सामान्यतः लोकव्यवहार में 'हवन करना' इस क्रियात्मक अर्थ में प्रचलित है किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में इसका अर्थ 'हव्य वस्तु' (हवि) है। तभी इस प्रयोग की सिद्धि हो सकेगी। इसके लिए निगम (प्रयोग) तथा निर्वचन (व्युत्पत्ति)—ये दो प्रमाण दिये गये हैं। हमें प्रयोग मिलते हैं—'जिसका रखा हुआ अग्निहोत्र (हवि) अशुद्ध हो गया हो......' इत्यादि। और व्युत्पत्ति भी है—जो अग्नि को दिया जाय (हूयते)। अतः अर्थ हुआ कि यवागू (हलवा) नामक हवि को देवता के निमित्त त्याग करके अग्नि में डालता है।

(९) द्वितीया ब्राह्मणे (२।३।६०)। ब्राह्मणविषये प्रयोगे दिवस्तदर्थस्य कर्मणि द्वितीया स्यात्। षष्ठ्यपवादः। 'गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः' (मैत्रा० सं० १।६।११)।

(१०) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (२।३।६२)। षष्ठी स्यात्। 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसः'। 'गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्'। वनस्पतिभ्य इत्यर्थः। वा०—षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम् 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः'।

(११) यजेश्च करणे (२।३।६३) । इह छन्दसि बहुलं षष्ठी। 'घृतस्य घृतेन वा यजते' ।

(६) पहले के सूत्र में (२।३।५७ व्यवहृपणोः समर्थयोः) द्यूत और क्रय-विक्रय का वर्णन है उस अर्थ में संस्कृत में दिव् धातु के कर्म में षष्ठी होती है (दिवस्तदर्थस्य), किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में द्वितीया होती है । इसलिये यह सूत्र षष्ठी का अपवाद-स्वरूप है । उस दिन सभा में वे उसकी गौ का परस्पर व्यवहार करें । गाम् में द्वितीया हुई है किन्तु लोक में षष्ठी चाहिये । शेखरकार (नागेश) कहते हैं कि 'विभाषोपसर्गे' (पूर्वसूत्र) के द्वारा षष्ठी और द्वितीया का वैकल्पिक विधान होने से यह सूत्र उपसर्गरहित दिव् धातु के विधान के लिए है । अतः 'शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति' का अपवाद यह सूत्र केवल 'शतं दिव्यति' कहकर करता है । दिव् धातु का अर्थ यहाँ जुआ खेलना (बाजी लगाना) तथा लेन-देन करना है । इसमें श्यन् विकरण लगता है तथा 'हलि च' (८।२।७७) सूत्र से उपधा-दीर्घ होता है—दीव्यति (हलि च परतो रेफवकारान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः) । (१०) वेद में चतुर्थी के स्थान में षष्ठी रूप से होती है जैसे चन्द्रमा के लिए पुरुषमृग (मृगी नहीं) चाहिये । 'चन्द्रमसः' षष्ठी है । वनदेवताओं के लिए गोधा, कालका[1] आदि पशु चाहिये । वहाँ भी वनस्पति में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी है । वार्तिक में कहते हैं कि षष्ठी के स्थान में भी चतुर्थी होती है—स्त्रियों की किसी विशेष अवस्था में कहा कि जो अपने छिन्न अङ्ग से पीती है उसे छिन्नांग पुत्र उत्पन्न होता है, इसी तरह काशिका में—या नखानि कृन्तति तस्यै कुनखः (जायते) इत्यादि । तस्याः (षष्ठी) के स्थान में तस्यै (च०) । एक अन्य उदाहरण है—अहल्यायै जारः (तै० सं० २।५।१।७) । (११) वेद में यज् धातु के करण कारक में बहुलरूप से षष्ठी होती है—घी से (घृतेन, घृतस्य) यज्ञ करता है ।

---

१. गोधा=गोह, कालका=एक पक्षी, दार्वाघाट=कठफोड़वा (wood-pecker) ये सभी जीव वनस्पतियों के नाशक है । इन्हें वनस्पति-देवताओं को उपहृत किया जाता है ।

(१२) बहुलं छन्दसि (२।४।३९)। अदो घस्लादेशः स्यात्। घस्तां नूनम्। लुङि 'मन्त्रे घस०' इति च्लेर्लुक्। अडभावः। 'सग्धिश्च मे' (वाज० सं० १८।९)।

लोक में अद् धातु का लुङ् और सन् में घस् आदेश हो जाता है जैसे—अघसत्, जिघत्सति। वेद में ऐसा बहुल रूप से होता है। घस्ताम्=अद्+लुङ् (तस्–ताम्)=उन दोनों ने खाया। यहाँ 'मन्त्रे घस०' इत्यादि से लुङ् में होने वाले च्लि (३।१।४३) का लोप तथा अट् का लोप 'बहुलं छन्दस्यमाङ्-योगेऽपि' (६।४।७५) के द्वारा हो गया। चूँकि इस उदाहरण में 'लुङ् सनोः' के द्वारा ही घस् हो जाता है इसलिए दूसरा उदाहरण देते हैं—सग्धिः=सहभोजन [अद्+क्तिन्—घस् ति—(घसिभसोर्हलि च ६।४।१०० से घ के उपधा अ का लोप) घ्स् ति—(झलो झलि ८।२।२६ से सलोप) घ् ति—(झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४० से त् का ध् में परिवर्तन) घ् धि —(झलां जश् झशि ८।४।५३ से घ् का ग्=जश्त्व)—ग्धि—समाना ग्धि—सग्धिः (समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु ६।३।८४ के द्वारा समान का स हो जाना)। घ् को ग् में बदलने के समय 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (१।१।५७) के द्वारा उपधा के अलोप को स्थानिवत् नहीं समझें क्योंकि 'न पदान्त०' (१।१।५८) के द्वारा जश् में इसका निषेध है। अतः झश् (ध) पर में होने पर झल् (घ्) को जश् (ग्) हो गया, अलोप स्थानिवत् बनकर इसें बाधा नहीं दे सकता। 'मुझे सहभोज मिले, सहमान मिले (सपीतिः)।

(१३) हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (२।४।२८)। द्वन्द्वः पूर्ववल्लिङ्गः। हेमन्तश्च शिशिरं च हेमन्तशिशिरौ। अहोरात्रे॥

संस्कृत-भाषा में द्वन्द्व समास का लिङ्ग विषयक नियम है—परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (२।४।२६) वैदिक भाषा में इसका अतिक्रमण करके पूर्वशब्द के अनुसार लिङ्ग ग्रहण करने वाले दो पद मिलते है—**हेमन्तशिशिरौ** (हेमन्तश्च शिशिरं च—पूर्वपद हेमन्त के अनुसार समास पुंल्लिङ्ग है, उत्तर पद के अनुसार नपुं० नहीं)। इसी प्रकार पद है—**अहोरात्रे** (अहश्च रात्रिश्च पूर्वपद अहन् के अनुसार समास नपुं० लिङ्ग है)। संस्कृत में 'अहःसर्वैकदेश० (५।४।८७) से समासान्त अच् प्रत्यय तथा 'रात्राह्नाहाः पुंसि' (२।४।२९)

से पुंलिङ्ग होकर 'अहोरात्रः' बनेगा। वेद में 'अहोरात्राणि' भी मिलता है। लोक में हेमन्तशिशिरौ के स्थान पर 'हेमन्तशिशिरे' होगा।

(१४) **अदिप्रभृतिभ्य शपः—बहुलं छन्दसि** (२।४।७२-७३)। वृत्रं हनति वृत्रहा। 'अहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः' (ऋ० १।३२।५)। अत्र लुक् न। अदादिभिन्नेऽपि क्वचिल्लुक्। 'त्राध्वं नो देवाः'॥

(१५) **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः - बहुलं छन्दसि** (२।४।७५-७६)। 'दाति प्रियाणि चिद् दसु'। अन्यत्रापि—'पूर्णां विवष्टि'॥

(१४) अदादि धातुओं के बाद शप् का लोप संस्कृत में अनिवार्यतः होता है किन्तु वेद में बहुल रूप से होता है। हन् और शी धातुओं के वाद नियमतः शप् विकरण का लोप होने पर भी नहीं हुआ—हनति, शयते। हन्+शप्+तिप्=हनति (लोक में—हन्ति)। शीङ्+शप्+त (आत्मनेपद)= गुण और अयादेश होकर—शयते (लोक में—शेते)। कभी-कभी अदादि-भिन्न धातुओं से शप् का लोप होता है जैसे—'त्राध्वम्' प्रयोग में। यहाँ 'त्रैङ् पालने' (भ्वादि १०३४) धातु से शप् का लोप करके रूप बना है। त्रै+लोप् (ध्वम्)। 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४५) से त्रै का आकारादेश हुआ क्योंकि शित् प्रत्यय (शप्) अब नहीं रहा। संस्कृत में—त्रै+शप्+ध्वम्, धातु का आयादेश—त्रायध्वम्।

(१५) लोक में जुहोत्यादि धातुओं के वाद शप् के स्थान में श्लु होता है जिसका फल है द्वित्व होना। किन्तु ऐसा वेद में वहुल रूप से होता है—दा से दाति (लोक में श्लु होने से ददाति)। जहाँ श्लु की प्रवृत्ति नहीं है वहाँ भी श्लु होता है—वश्—वश्वश्ति—ववश्ति—विवश्ति—विवष्ति—विवष्टि (सूत्र—श्लौ, हलादिः शेषः,—भृञामित्-वहुलं छन्दसि, व्रश्चभ्रस्ज०, ष्टुना ष्टुः)। 'पूरी वस्तु चाहता है।'

(१६) **मन्त्रे घस-ह्वर-णश-वृ-दहाद्-वृज्-कृ-गमि-जनिभ्यो लेः** (२।४।८०)। लिरिति च्लेः प्राचां संज्ञा। एभ्यो लेर्लुक् स्यान्मन्त्रे। 'अक्षन्नमीमदन्त हि' (ऋ० १।८२।२)—घस्लादेशस्य 'गमहन०' (६।४।९८) इत्युपधालोपे 'शासिवसि०' (८।३।६०) इति षः। 'माह्वर्मित्रस्य'। 'धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य' (ऋ० १।१८।३)—'नशेर्वा'

(८।२।६३) इति कुत्वम् । 'सुरुचौ वे॒न आवः' (वाज० १३।३) । 'मा न॒ आधक्' (ऋ० ६।६१।१४) आदित्याकारान्तग्रहणम् -- 'आप्रा॒ द्यावापृथि॒वी' (ऋ० १।११५।१) । 'परावग् भार॒भृद्यथा' (ऋ० ८। ७५।१२) 'अक्रन्नु॒षासः' (वाज० ३।४७) । 'ते र॒यिं जागृवांसो॒ अनुग्मन्' । (ऋ०६।१।१) । मन्त्रग्रहणं ब्राह्मणस्याप्युपलक्षणम्— 'अज्ञत वा अस्य दन्ताः' (ऐत० ब्रा० ३३।२) । विभाषानुवृत्तेर्नेह— 'न ता अगृभ्ण॒न्नजनिष्ट हि षः' ॥

लुङ् में लगनेवाले च्लि को प्राचीन वैयाकरण लि कहते थे । यहाँ उसी का प्रयोग है । वैदिक भाषा में निम्नलिखित धातुओं के बाद लुङ्लकार में विकरण के रूप में आने वाले च्लि का लोप हो जाता है—(१) घस्—अट् (घस्)+लुङ् (झि)—अट् घस् अन् (झोन्तः, इतश्च)—(जश्त्व) अग्स् अन्—(चर्त्व—खरि च) अक्षन् । यहाँ 'गमहन्०' के द्वारा घस् के उपधा अ का लोप तथा 'शसिवसिघसीनां च' से षत्व हुआ है । (लोक—अघसत्) (२) ह्वर्—ह्वृ+लुङ्—(गुण) ह्वर्+ति (हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् से ति लोप तथा मा के प्रयोग में अड़भाव—न माङ्योगे) मा ह्वः (लोक—आह्वार्षीत्) । (३) णश्—प्र अडभाव (बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि) नश्+ति (लोप)—('नशेर्वा' से श् का क् प्रनक्)—('उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' से णत्व तथा 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से ङ्) प्रणङ् मर्त्यस्य । (लोक—अनशत्) । (४) वृ—वृ+लुङ्—तिलोप गुणादि—वर् ('खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग तथा 'छन्दस्यपि दृश्यते' ६।४।७३ से आट्) आवः (लोक—अवारीत्) । (५) दह्—दह्+लुङ्—'दादेर्धातोर्घः' से दघ्, तब जश्त्व से दग्, चर्त्व से दक्) दक् तिलोप—('एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' से द का ध्) धक्—पूर्ववत् आधक् (लोक—अधाक्षीत्) ।

आत् का मतलब आकारान्त धातु है अतः (६) आ+प्रा (भरना)+लुङ्—आ प्रा+सिप्—(रुत्व, यकार, यलोप) आ प्रा (लोक—अप्रासीः) । (७) वृज्—परा+वृज्+लुङ्—(गुण, रपरत्व, कुत्व, तिलोप)—परावर्ग् (लोक—अवर्जीत्) । (८) कृ—कृ+लुङ् (झि)—अ+कृ+अन् (झि चूँकि ङित् है अतः गुण के अभाव में यण् हुआ)—अक्रन् । (लोक—अकार्षुः—

झेर्जुस्) (६) गम्—अनु गम्—लुङ् (झि)—(उपधा लोप, अन्नादेश, संयोगान्त त् का लोप) अनुग्मन् (अट् का लोप)—(लोक—अन्वगमन्)। जन् धातु से च्लिलोप का उदाहरण मन्त्रभाग से न देकर ऐतरेय ब्राह्मण से दिया जा रहा है । उसी की सफाई दी जा रही है कि मन्त्र का अर्थ लक्षणा से ब्राह्मण भी समझ लें । तदनुसार (१०) जन्—जन्+लुङ् (झ)—अजन् अत (उपधालोप) अज्न् अत—अज्ञत । इस सूत्र में विकल्प का अनुवर्तन करके लौकिक-जैसा प्रयोग भी सिद्ध हो सकता है—अजनिष्ट । (ऋ० १०।७२।५) इसमें च्लि का लोप नहीं हुआ, वह सिच् बन गया है ।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीय अध्याय

[आम् का निपातन—च्लि का चङ् और अङ्—कृत्यनिपातन—कृत्-प्रत्ययः—इन्, ण्वि, ञ्युट्, विट्, ण्विन्, विच्, मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, क्विप्, वाहुल्य से प्रत्यय होना—क्तिन्, युच्—लुङ्, लङ्, लिट् का स्वार्थातिक्रमण—लेट् का रूप—शायच्—विकरण-वाहुल्य—आशीर्लिङ् में अङ्, अक्—सार्वधातुक, आर्धधातुक—तुमर्थ-प्रत्यय—कृत्यार्थ-प्रत्यय—भावलक्षण के प्रत्यय।]

(१७) अभ्युत्सादयांप्रजनयांचिकयांरमयामकः पावयांक्रियाद् विदामक्रन्निति च्छन्दसि (३।१।४२)। आद्येषु चतुर्षु लुङि आम्, 'अकः' इत्यनुप्रयोगश्च। अभ्युत्सादयामकः—अभ्युदसीषदत् इति लोके। प्रजनयामकः—प्राजीजनदित्यर्थः। चिकयामकः—अचैषीदित्यर्थे चिनोतेराम्, द्विर्वचनं कुत्वं च। रमयामकः—अरीरमत्। पावयांक्रियात्—पाव्यादिति लोके। विदामक्रन्—अवेदिषुः॥

वेद में ये छः क्रियापद निपातन से सिद्ध हैं। पहले चार शब्द लुङ् लकार में आम् (लिट् वाला) तथा 'अकः' का अनुप्रयोग करके बनते हैं। (१) अभ्युत्सादयामकः—अभि उत्+सद् (बैठना) धातु+णिच्+आम्+लुङ् (अकः)—णित् से वृद्धि 'सादि'—गुण (आर्धधातुक आम् के कारण) 'सादे'—अयादेश—अभ्युत्सादयाम्। तब कृ+लुङ् (तिप्—च्लि-लोप—गुण, रपर, विसर्ग) अकः। लोकः में चङ् लगने पर 'णौ चङि उपधाया ह्रस्वः' से ह्रस्व, 'चङि' से द्वित्व, आदि हल् का शेष, 'सन्वल्लघुनि०' से सन्वद् भाव अर्थात् 'सन्यतः' से इकार और इसका दीर्घ (दीर्घो लघोः) करके 'अभ्युदसीषदत्' होता है। उसी तरह 'प्राजीजनत्' के स्थान में (२) प्रजनयामकः होता है। यहाँ धातु की उपधा की वृद्धि 'जनिवध्योश्च' से रुक गयी। (३) चिकयामकः—चि+आम्+लुङ्। धातु को द्वित्व और कवर्ग (कुत्व) में बदलना निपातन से हुआ है। लोक में सिच् और इसके लिए वृद्धि (सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु) के कारण 'अचैषीत्' बनता है। इसी प्रकार अरीरमत् के स्थान पर (४) रमयामकः बनता है। इसी प्रकार

आशीर्लिङ् में 'पावयां क्रियात्' तथा लुङ् में 'विदामक्रन्' शब्द सिद्ध हैं। इन दोनों में भी आम् प्रत्यय तथा उन-उन लकारों के कृ-धातु के रूपों का अनुप्रयोग होता है।

(५) पावयांक्रियात्—पू+णिच्+आम् (आशीर्लिङ्) क्रियात्। लोक में ऐसा करने पर (पू+णिच्) पाव्यात् बनेगा। (६) विदामक्रन्—विद्+आम् (लुङ्)+कृ+झि (अन्)—झि के ङित् (सार्वधातुकमपित्) होने से कृ में गुण न होकर यण् होगा। अतः विदामक्रन्।

लोक में आम् न होने से झि को जुस् होकर—अवेदिषुः रूप बनेगा। आम् केवल लिट् और विदाङ्कुर्वन्तु में लगता है किन्तु वेद में इन शब्दों में भी लगता है। बल्कि लिट् में वैदिक भाषा में निषिद्ध है—कास्प्रत्ययादाम् अमन्त्रे लिटि (३।१।१५) अर्थात् वेद में भिन्न (संस्कृत) भाषा में कास् धातु के बाद तथा प्रत्ययान्त धातु (जैसे—सन्नन्त, यङन्त, णिजन्त, क्यजन्त आदि) के बाद केवल लिट् लकार में आम्-प्रत्यय होता है तथा उसके अनन्तर कृञ् (कृ, भू, अस्) धातु के लिट् रूप का अनुप्रयोग होता है जैसे—पिपठिषाञ्चकार, चोरयामास, पुत्रीयाम्बभूव इत्यादि। वस्तुतः ये संयुक्त क्रियाओं के प्रारम्भिक रूप हैं जिनका विकास भारतीय आर्य भाषाओं में आगे चलकर हुआ।

(१८) गुपेश्छन्दसि (३।१।५०)। च्लेश्चङ्वा। गृहानजूगुपतं युवम्। अगोप्तमित्यर्थः।

(१९) नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः (३।१।५१)। च्लेश्चङ् न। 'मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः (ऋ० १।५३।३)।' 'मा त्वाग्निर्ध्वनयीत् (ऋ० १।१६२।१५)।'

(२०) कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि (३।१।५९)। च्लेरङ् वा। 'शकुनेभ्योऽकरं नमः (ऋ० १०।८५।१७)।' अमरत्। अदरत्। 'यत्सानोः सानुमारुहत् (ऋ० १।१०।२)।'

(१८) गुप् धातु के च्लि को विकल्प से वैदिक भाषा में चङ् होता है। जैसे—गुप् + लुङ्=अट्+गुप्+च्लि (चङ्)+लुङ् (थस्>तम्)। इसके बाद धातु का द्वित्व, अभ्यासकार्य (हलादि शेषः, कुहोश्चुः, दीर्घो लघोः

चङ् (अ) तथा तम् को जोड़ देने पर—अजूगुपतम् । (आप दोनों ने हमारे घरों की रक्षा की है)। लोक में चङ् न होने से—अ गुप्+सिच् तम्—'वदव्रज०' (७।२।३) से वृद्धि, 'झलो झलि' से सलोप, अगौप्तम् । चूँकि गुप् वेट् (विकल्प से इट् लेने वाला—'स्वरतिसूति०') है अतः इट् लगाने पर वृद्धि न होकर (नेटि) 'पुगन्तलघूपधस्य' से गुण होगा तथा दूसरा रूप अगोपिष्टम् बनेगा । फिर इसमें 'आय' ('गूपूधूपविच्छि०') लगाने पर तीसरा रूप होगा—अगोपायिष्टम् ।

(१९) णिजन्त में च्लि के स्थान में चङ् होता है (णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्) किन्तु ऊनि, ध्वनि, एलि और अर्दि धातुओं में नहीं होता । ऊनि+णिच्+सिप्—ऊने इट् स् ईट् (अस्तिसिचोऽपृक्ते) स्—'इट ईटि' से स् का लोप—ऊनयीः । अजादि धातुओं में लगने वाले आट् आगम का लोप् 'मा' के कारण हुआ है । (लोक—औननत्)। उसी तरह 'ध्वनयीत्' (लोक—अदिध्वनत् या अदध्वनत्—घटादि या चुरादि पक्ष में)।

(२०) कृ, मृ, दृ और रुह धातुओं के च्लि को विकल्प से अङ् हो जाता है । अकरम्—अट् कृ+अङ् मिप् (अम्) (लोक में सिच्—अकार्षम्)। अमरत् (लोक में—अमृत, 'ह्रस्वादङ्गात्' से सिच् लोप)। अदरत् (लोक—अदारीत्)। अरुहत् (लोक—अरुक्षत्—शल इगुपधादनिटः क्सः)।

(२१) छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्यस्तर्याध्वर्यखन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्यब्रह्मवाद्यभाव्यस्ताव्योपचाय्यपृडानि (३।१।१२३)। कृन्ततेर्निस्पूर्वात्क्यपि प्राप्ते ण्यत् । आद्यन्तयोः विपर्यासो निसः षत्वं च । 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः ।' देवशब्दे उपपदे ह्वयतेर्जुहोतेर्वा क्यप् दीर्घश्च । 'स्पर्धन्ते वा उ देवहूये ।' प्रउत् आभ्यां नयतेः क्यप्—प्रणीयः, उन्नीयः । उत्पूर्वाच्छिषेः क्यप्—उच्छिष्यः । मृङ्स्तृञ्ध्वृभ्यो यत्—मर्यः । स्तर्या—स्त्रियामेवायम् । ध्वर्यः । खनेर्यण्ण्यतौ—खन्यः, खान्यः । यजेर्यः—'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै ।' आङ्पूर्वात्पृच्छेः क्यप् । 'आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति ।' सीव्यतेः क्यप् षत्वं च—प्रतिषीव्यः । ब्रह्मणि वदेर्ण्यत्—ब्रह्मवाद्यम् । लोके तु 'वदः सुपि क्यप् च' (३।१।१०६) इति क्यब्यतौ । भवतेः

स्तौतेश्च ण्यत्—भाव्यः, स्ताव्यः। उपपूर्वाच्चिनोतेर्ण्यत् आयादेशश्च पृडे उत्तरपदे—उपचाय्यपृडम्। (वा०) 'हिरण्य इति वक्तव्यम्'। उपचेयपृडमन्यत्। 'मृड' सुखने 'पृड' च—इत्यस्माद् इगुपधलक्षणः कः॥

ये सभी शब्द कृत्यप्रत्ययान्त हैं तथा निपातन से सिद्ध हैं—निस्+कृत्+क्यप् के स्थान में ण्यत्, तव वर्णविपर्यय और षत्व का निपातन (कर्त्य—तर्क्य)। देव+ह्वे या हु+क्यप् (दीर्घ)—देवहूय। प्र, उत्+नी+क्यप्—प्रणीय, उन्नीयः। उत्+शिष्+क्यप्—उच्छिष्यः। मृ, स्तृ, ध्वृ से यत्—मर्यः, स्तर्या (सदा स्त्रीलिङ्ग में) ध्वर्यः। खन् से यत्, ण्यत्—खन्य, खान्य। यज्+यत्=देवयज्या (स्त्रीलिङ्ग)। आ+प्रच्छ्+क्यप्—आपृच्छ्य। षिवु+क्यप् षत्व—प्रतीषीव्य। ब्रह्म उपपद में होने पर वद्+ण्यत्—ब्रह्मवाद्य। लोक में वद् से सुवन्त के उपपद होने पर क्यप् और यत् (ब्रह्मोद्यम् ब्रह्मवधम्)। भू, स्तु+ण्यत्—भाव्य, स्ताव्य। पृड के उतरवर्ती होने पर उप+चि+ण्यत्+आयादेश=उपचाय्यपृड, लेकिन यह हिरण्य के अर्थ में होता है—दूसरी जगह उपचेयपृडम् (यत्)। मृड तथा पृड सुखार्थक धातु हैं 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' से क प्रत्यय। पृड्+क=पृडम्।

(२२) **छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्** (३।२।२७)। एभ्यः कर्मण्युपपदे इन् स्यात्। 'ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिम्' (वाज० १।१७)। उत नो गोषणिं धियम्' (ऋ० ६।५३।१०)। 'ये पथां पथिरक्षयः (वाज० सं० १६।६०), 'चतुरक्षौ पथिरक्षी" (ऋ० १०।१४।११), 'हविर्मथीथीनामभि' (ऋ० ७।१०४।२१)॥

वेद में, किसी कर्म के उपपद में रहने पर वन्, सन्, रक्ष् और मथ् धातुओं से इन प्रत्यय होता है। वन् और सन् धातु दो तरह के हैं—एक भ्वादि में (वन षण सम्भक्तौ) रूप—वनति, सनति=वितरति और दूसरे तनादि में (वनु याचने, षणु दानेः रूप है—वनोति, सनोति)। यहाँ पर से भ्वादिगणके रक्ष् और मथ् के साथ निर्देश होने के कारण वन्, सन् भ्वादि के ही लिये जायँगे। दूसरे यदि तनादि के धातु अभीष्ट होते तो अनुबन्धों (उ—वनु) के साथ ही धातु लिखे जाते। ब्रह्म वनतीति ब्रह्मवनिः, क्षत्रं वनती क्षत्रवनिः (ज्ञान का वितरण करने वाला, शक्ति का वितरण करने वाला)। उसी तरह

गो + सन् + इन्—गोषणिः (गां सनति = गौ प्रदान करने वाला)। यहाँ पर मूर्धन्य ष के विषय में सुबोधिनी और शेखरटीकायें परस्पर विरोधी हैं। सुबोधिनीकार इस ष की व्याख्या 'सुषामादिषु च' (८।३।९८) के द्वारा करते हैं परन्तु शेखर में नागेश ने इसका खण्डन किया है। षत्व-विधान का एक प्रमुख सूत्र है 'सनोतेरनः' (८।३।१०८) जिसके अनुसार अनकारान्त सन् धातु के स् को ष् होता है जैसे गोषाः, नृषाः। इसके प्रत्युदाहरण (= नकारान्त का निषेध क्यों किया ?) में 'गोसनिम्' दिया है जिसमें ष् नहीं हुआ। परन्तु महाभाष्यकार का कहना है—'गोसनिशब्दस्य सवनादिषु पाठः करिष्यते' अर्थात् गोसनि का पाठ सवनादि गण में है। इस प्रकार भाष्यकार षत्व का विधान नहीं करते। तब ष् कैसे हुआ ? वैदिक सम्पदाय में दन्त्य का मूर्धन्य-पाठ होता है। ऐसा केवल संहितापाठ में होता है, पदपाठ में 'गोऽस-निम्' यहीं रूप होगा। सुषामादि के द्वारा ष् मानने पर भाष्य का विरोध होगा। विशेष विवरण के लिए काशिका और उसकी टीकायें पढ़ें।

पुनः, पथिन् + √रक्ष् + इन् = पथिरक्षिः (पन्थानं रक्षति)। 'जो मार्गों के मार्ग-रक्षक हैं .....', 'चार अक्ष (पहिये) वाले मार्ग रक्षक दोनों...'। हविः + √मथ (विलोडने) + इन् = हविर्मथिः (हविः मन्थति)। 'हविर्मन्थन करने वालों की तरफ......'।

(२३) **छन्दसि सहः** (३।२।६३)। **सुप्युपपदे सहेर्ण्विः स्यात्।** पृतनाषाट् (ऋ० १।१७५।२)।

(२४) **वहश्च** (३।२।६४)। **प्राग्वत्। दित्यवाट्। योगविभाग उत्तरार्थः।**

वेद में √सह और √वह से ण्वि प्रत्यय होता है यदि कोई सुबन्त-पद उपपद में हो। ण्वि प्रत्यय में कुछ बचता नहीं क्योंकि 'चुटू' (१।३।७) से ण् की इत्संज्ञा और 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६७) से वि को लुप्त किया। पृतना + √सह् + ण्वि = (णित् प्रत्यय लगने के कारण 'अत उपधायाः' ७।२।११६ से वृद्धि) पृतना + साह् = ('हो ढः' ८।२।३१ से) साढ्—('सहे साडः सः' ८।३।५६ से ष्) षाढ् ('वाऽवसाने' ८।४।५६ से वैकल्पिक चर्त्व = ड् या ट्)—पृतनाषाट् (सेना को हराने वाला)। उसी प्रकार

दित्यवाह् (दैत्यों को ढोने वाला)। कालिदास ने भी कुमारसम्भव (२।१) में 'तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायम्भुवं ययुः' लिखा है सुबोधिनी के अनुसार 'तुरासाहम्' लौकिक प्रयोग में विच् प्रत्यय हुआ है। हरदत्त (पदमञ्जरीकार) ने इसे चिन्तनीय प्रयोग में कहा है। वस्तुतः कालिदास के काल में ऐसे वैदिक प्रयोग प्रचलित थे।

यदि दोनों सूत्रों में एक ही तरह की बात है तो पृथक् सूत्र क्यों दिये? यदि नहीं देते तो आगे के सूत्रों में दोनों धातुओं (सह्, वह्) की अनुवृत्ति चलने लगती।* हमें यह अभीष्ट नहीं। अगले सूत्र 'कव्यपुरीष०' में केवल वह् धातु से ही ञ्युट् प्रत्यय होता है। केवल वह् का अनुवर्तन हो सके इसलिए उसका पृथक् निर्देश किया गया है।

(२५) कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् (३।२।६५)। एषु वहेर्ञ्युट् स्याच्छन्दसि। कव्यवाहनः (वाज० २।२९)। पुरीषवाहनः। पुरीष्यवाहनः (वाज० ११।४४)॥

(२६) हव्येऽनन्तःपादम् (३।२।६६)। 'अ॒ग्निश्च॑ हव्य॒वाह॑न' (ऋ० १।४४।२)। पादमध्ये तु 'वहश्च' इति ण्विरेव—'ह॒व्य॒वाळ॒ग्निर॒जरः॑ पि॒ता नः॑' (ऋ० ३।२।२)॥

कव्य (पितरों को दी गई वस्तु), पुरीष (मल), तथा पुरीष्य शब्दों के उपपद में होने पर √वह् से ञ्युट् प्रत्यय वेद में होता है। 'चुटू' (१।३।७) से ञ् की और 'हलन्त्यम्' (१।३।३) से ट् की इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' (१।३।९) से लोप हुआ। बचा 'यु', जिसका 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'अन' आदेश हुआ। ञ् की इत्संज्ञा होने के कारण धातु की उपधा की वृद्धि ('अत उपधायाः') कव्य+√वह्+ञ्युट्>कव्य वाह अन>कव्यवाहन। पुरीषवाहनः। पुरीष्यवाहनः। टित् होने से इनके स्त्रीलिंग रूप में ङीप् प्रत्यय लगेगा (टित् ढ अण् अञ्० ४।१।१५)।

हव्य (देवताओं की दी गई वस्तु) शब्द के उपपद में रहने पर भी √वह् को ञ्युट् हो किन्तु यह तभी देखा जाता है जब इससे निष्पन्न शब्द पाद

* एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः। (कातन्त्रपरिभाषावृत्ति, परि० ९)।

बीच में (अन्तःपादम्) न हो, अन्त में हो। अन्तःपादम्=पादस्य मध्ये। 'अग्निश्च हव्यवाहन' में अन्तिम शब्द अष्टाक्षर गायत्री छन्द के पाद में अन्तिम है। यदि पाद के बीच में हो तब तो २४वें सूत्र के अनुसार ण्वि प्रत्यय ही होगा—हव्यवाट्। 'हमारे पिता अग्नि अजर हैं, हव्य वहन करने वाले हैं'। हव्यवाट्+अग्निः=हव्यवाडग्निः—ड् का वेद में दो स्वरों के बीच में ळ हो जाता है इसलिये 'हव्यवाळग्निः' बना। देखें—'द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स डकारो ळकारः' (वै० प्र० के षष्ठाध्याय में)।

(२७) **जनसनखनक्रमगमो विट्** (३।२।६७)। 'विड्वनोः०' (६।४।४१) इति आत्वम्। अब्जाः (ऋ० ७।३४।१६)। गोजाः (ऋ० ४।४०।५)। 'गोषा इन्द्रो नृषा असि' (ऋ० ९।२।१०)। 'सनोतेरनः' (८।३।१०८) इति षत्वम्। 'इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवा-रुजत्' (ऋ० ६।६१।२)। 'आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः' (ऋ० ४।३९।१ तथा ४०।४)। अग्रेगाः॥

किसी सुबन्त के उपपद में रहने पर √जन् (जन जनने, जनी प्रादुर्भावे) √सन् (षणु दाने, वन षण संभक्तौ), √खन्, √क्रम् (चलना) और √गम् से विट् प्रत्यय होता है। विट् प्रत्यय का पूरा (सर्वापहारी) लोप हो जाता है (देखिये—'हलन्त्यम्' तथा 'वेपरपृक्तस्य')। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' के अनुसार विट् और वन् प्रत्ययों के परे होने पर धातु के अन्त में वर्तमान अनु-नासिक (ङ्, ञ्, न्, म् आदि) का आकारादेश हो जाता है। इस प्रकार—अप्+√जन्+विट्>अप्+ज आ>अब्जाः (जल से उत्पन्न)। गोजाः (गौ से उत्पन्न)। गो+√सन् (आ)=गो+स आ=गो+सा। 'सनोतेरनः' के अनुसार यदि सन् धातु के किसी रूप में नकार नहीं बचे तो षत्व के निमित्तक (इण् कवर्ग) के बाद में पड़ने पर उसका ष हो जाता है। गो ओकार (निमित्तक) से युक्त है, नृ में भी निमित्तक ऋकार है अतः 'सा' का 'षा' होकर गोषाः, नृषाः बने। 'इन्द्र, आप गौ और मनुष्यों का दान करते हैं'। बिस (=कमल की जड़)+√खन्+विट्>बिस+खन् (आ)=बिसखाः (कमल की जड़ खोदने वाला)। (देखिये निरुक्त २।२४, तथा ऋ० ६।६१।२)। दधि+√क्रम्+विट्=दधि+क्रम (आ)=दधिक्राः (घोड़े)।

अग्रे+√गम्+विट्=अग्रेगाः। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (६।३।६) से सप्तमी का अलुक् हुआ।

(२८) **मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्** (३।२।७१) **वा०—'श्वेतवहादीनां डस्पदस्येति वक्तव्यम्'।** यत्र पदत्वं भावि तत्र ण्विनोऽपवादो डस् वक्तव्यः इत्यर्थः। श्वेतवाः, श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः। उक्थानि उक्थैः वा शंसति उक्थशा यजमानः। उक्थशासौ, उक्थशासः। पुरो दाश्यते दीयते पुरोडाः।

मन्त्र में 'श्वेत' उपपदवाले (पूर्वक) √वह् (ढोना) से, 'उक्थ'-पूर्वक √शस् से, और 'पुरः' (=आगे) पूर्वक √दाश् (देना) से ण्विन् प्रत्यय होता है। इस सूत्र में उपपद के साथ धातुओं का निपातन इसलिए किया गया है कि अन्य सूत्रों से अविहित पदों की सिद्धि हो सके। वस्तुतः वेद में केवल ऐसे ही पदों का प्रयोग देखा गया है। वार्तिककार (कात्यायन) के अनुसार श्वेतवह आदि शब्दों का पद होने पर डस् हो जाता है अर्थात् जहाँ पद होने की सम्भावना हो वहाँ ण्विन् के स्थान पर उसका अपवाद डस् हो जायगा। पद का अर्थ है सर्वनामस्थान तथा भसंज्ञा से भिन्न स्थल। तदनुसार प्रथमा एकवचन में डस् नहीं होना चाहिए तथापि श्वेतवाः, उक्थशाः इत्यादि रूप (प्रथ० एक०) डस् के बिना सिद्ध नहीं हो सकते। पाणिनि के सूत्र 'अवयाः श्वेतवाः' (८।२।६७) से प्रतीत होता है कि प्रथमा एकवचन में भी डस् होता है और 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' से उपधादीर्घ भी होता है। इसलिए दीक्षित ने कहा है—यत्र पदत्वं भावि। डस् में बचेगा केवल अस्, किन्तु 'चुटू' के द्वारा ड् की इत्संज्ञा होने के कारण इस प्रत्यय को डित् कहेंगे। तब फल होगा—'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः' अर्थात् डित् होने पर तो बिना भसंज्ञा के भी टि का लोप हो जाता है। इसलिए श्वेत+√वह्+डस्=(टि 'अह्' का लोप) श्वेत व् अस्=श्वेतवस्, फिर 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) से सु पर में होने से उपधा का दीर्घ, श्वेतवास् (स् का 'ससजुषो रुः' और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से बिसर्ग) = श्वेतवाः। श्वेता एनं वहन्ति इति श्वेतवाः=इन्द्रः। अतएव यहाँ श्वेत कर्त्ता होना चाहिये। श्वेतवाहौ आदि बिना डस् के हैं जिनमें 'अतः उपधायाः'

से वृद्धि हुई है (देखिये सू० २३–२४)। इनमें ण्विन् ही रह गया। जो उक्थों (स्तोत्रों) की या स्तोत्रों से स्तुति करे—वह उक्थशाः। यहाँ उपपद में कर्म या करण होना चाहिये। इसमें डस् हुआ है। ण्विन् होने पर 'उक्थशासौ'। उक्थशाः=यजमान। जो सामने दिया जाय वह 'पुरोडाः'। पुरः+√दाश्+डस्=पुरः द् अस् (उपधादीर्घ, द् का निपातन से ड्)= पुरोडाः (=हवि)। पद होने की स्थिति में— श्वेत+वह्+डस्+भ्याम्= श्वेतवस्+भ्याम्=श्वेतवोभ्याम्। उक्थशोभ्यः।

(२९) अवे यजः (३।२।७२)। अवयाः, अवयाजौ, अवयाजः।

(३०) अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च (८।२।६७)। एते सम्बुद्धौ कृतदीर्घा निपात्यन्ते। चादुक्थशाः।

(३१) विजुपे छन्दसि (३।२।७३)। उपे उपपदे यजेर्विच्। उपयट्।

'अव' उपसर्ग पूर्वक √यज् से भी ण्विन् (या डस्) प्रत्यय होता है। डस् होने पर अवयाः। ण्विन् में अवयाजौ, अवयाजः। शब्द-सिद्धि पूर्ववत् होगी। तब इसे अलग क्यों रखा? २८ वें सूत्र में जोड़ देते। किन्तु बाद वाले सूत्र (३१ वें) में केवल √यज् की आवश्यकता होती है। सबों के साथ रहने पर सबों का ही अनुवर्तन होता। इसलिए योग-विभाग किया गया है।

अवयाः इत्यादि शब्दों का निपातन सम्बोधन एकवचन में होता है। 'च' से उक्थशाः (रे स्तोत्रों के प्रशंसक!) भी समझें। यहाँ उपधा का दीर्घ 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' से नहीं हुआ क्योंकि उसमें तो सम्बुद्धि में उपधा-दीर्घ का निषेध किया है और ये रूप हैं सम्बुद्धि के ही। इनमें निपातन से ही दीर्घ हुआ है। यह सूत्र है तो अष्टम-अध्याय का, किन्तु प्रासंगिक देख कर दीक्षित ने इसे यहाँ ला रखा है। इस तरह अवयाः, श्वेतवाः आदि रूप प्रथमा और सम्बोधन दोनों के एकवचन में होते हैं। प्रथमा एकवचन में पदत्व की सम्भावना से तथा सम्बोधन एकवचन में निपातन से।

वेद में 'उप' के उपपद में रहने पर √यज् से विच् होता है। विच् के सभी वर्णों का लोप हो जाता है। उप+√यज्+विच्=(ज् का 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' ८।२।३६ से ष्) उपयष्=('झलां जशोऽन्ते'

से ड्। 'वाऽवसाने' से ट्)=उपयट्। 'छन्दसि' के देने की क्या आवश्यक[ता] है जबकि 'मन्त्रे' की भी अनुवृत्ति सम्भव है? नहीं, 'मन्त्रे' से केवल संहि[ता] भाग का ही विधान होता। 'छन्द' मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का बोधक है 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० ३१)। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३२)। किन्तु नागेश का कथन है [कि] 'छन्दसि' स्पष्टता के लिए है 'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्र बतलाता है कि ब्राह्मण भाग को 'छन्द' नहीं कहा गया है। इस प्रकार वे छन्द से ब्राह्मणभाग न[हीं] समझते। नागेश का यह मत आपाततः ठीक लगता है क्योंकि छन्द [का] अभिप्राय है छन्दोबद्ध वाक्य जो केवल संहिता में ही है। फिर भी पाणि[नि] की परम्परा को देखकर 'छन्दसि' से वैदिकभाषा-मात्र ग्रहण करना ही उचि[त] जँचता है। सुबोधिनीकार अपने मत पर ठीक हैं॥

(३२) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (३।२।७४)। सुप्युपस[र्गे] चोपपदे आदन्तेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये मनिनादयस्त्रयः प्रत्यय स्युः। चात् विच्। सुदामा (ऋ० ६।२०।७)। सुधीवा। सुपीवा भूरिदावा (ऋ० २।२७।१७)। घृतपावा (यजु० ६।१९)। विच्- कीलालपाः (ऋ० १०।९१।१४)॥

सुबन्त या उपसर्ग के उपपद में होने पर किसी आकारान्त-धातु से वे[द] में मनिन्, क्वनिप् या वनिप् प्रत्यय होते हैं। 'च' के प्रयोग से उपर्युक्त [अर्थ] वाले विच् प्रत्यय का विधान भी है। सु+√दा+मनिन्=सुदामन्—[प्र०] एक० में सुदामा (सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८ से उपधादीर्घ, 'नलो[पः] प्रातिपदिकान्तस्य' ८।२।७ से नकार-लोप) सु√धा+क्वनिप्=(प्रत्यय कित् होने से 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' ६।४।६६ से √आ का ईकारा[देश] सुधीवन्—प्र० एक० में सुधीवा (सिद्धि पूर्ववत्)। सु+√पा+क्वनिप् सुपीवन्—सुपीवा। भूरि+√दा+वनिप् (प्रत्यय कित् नहीं है, [अतः] 'घुमास्था०' के द्वारा इत् नहीं होगा)=भूरिदावन्—भूरिदावा (खूब [देने] वाला) घृत+√पा+वनिप्=घृतपावन्—घृतपावा (घी पीनेवाला)। विच् प्रत्यय होने पर तो प्रत्यय का कुछ बचेगा ही नहीं—कील[ाल] (जल)+√पा+विच्=कीलालपाः (पानी पीने वाला)॥

(३३) 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्'—बहुलं छन्दसि (३।२।८८)। उपपदान्तरेऽपि हन्तेर्बहुलं क्विप् स्यात् । यो मातृहा पितृहा ॥

(क) छन्दसि लिट् (३।२।१०५) । भूतसामान्ये । 'अ॒हं द्यावा॑पृथि॒वी आत॑तान' (वाज० ८।९) ॥

(ख) लिटः कानज्वा (३।२।१०६) क्वसुश्च । (३।२।१०७) । छन्दसि कानच्क्वसू वा स्तः । 'च॒क्रा॒णा वृष्णि॒म्' । 'यो नो॑ अग्ने॒ अर॑रिवाँ अघा॒युः' (ऋ० १।१४७।४) ॥

लोक में √हन् से क्विप् तभी होता है जब उपपद में ब्रह्म, भ्रूण और वृत्र शब्द हों; किन्तु वेद में किसी शब्द के भी उपपद में रहने पर √हन् से विविध प्रकार से क्विप् होता है जैसे मातृ+√हन्+क्विप् (सर्वलोप) =मातृहा ('सौ च' ६।४।१३ से उपधादीर्घ; नलोप० ८।२।७) । इसी प्रकार—पितृहा वैकल्पिक रूप हैं–पितृघातः, मातृघातः (मातृ+हन्+अण्) ।

वेद में लिट् लकार सामान्यभूतकाल में भी हो सकता है (लोक में केवल परोक्ष भूतकाल में) । जैसे—अहं द्यावापृथिवी आततान (यजु० ८।९) अर्थात् मैंने स्वर्ग और पृथ्वी को फैलाया । यहाँ लिट् लकार में √ तन् का प्रयोग है । सामान्यतः उत्तम-पुरुष में लिट् नहीं होता परन्तु वैदिक-भाषा में यह सम्भव है क्योंकि वहाँ लिट् से परोक्ष का आवरण हटाकर उसे सामान्य कर देते हैं ।

लिट् के स्थान में कानच् और क्वसु प्रत्यय होते हैं । 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५६) से लिट् के कार्य (द्वित्वादि) कानच् क्वसु में भी होते हैं । √कृ+कानच्=कृ कृ आन=ककृआन=चकृआ=चक्रान=चक्राण (अभ्यास, हलादिशेष, चुत्व, यण्, णत्व) 'जो वृष्णि को······कर चुका है' । नञ् (अ)+√रा+क्वसु=अ रा रा वस् (अभ्यास ह्रस्व, वस्वेकाजाद्घसाम् ७।२।६७ से इट्)= अररिवस् (अत्वसन्तस्य चाधातोः ६।४।१४ से उपधादीर्घ, उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७० से नुमागम, संयोगान्त स् लोप, हल्ङ्याप्० से सुलोप)=अररिवान्+अघः=अररिवाँ अघः (आतोऽटि नित्यम् ८।३।३ से अनुनासिक) । 'हे अग्ने ! जिसने हमें दान नहीं दिया वह पापी (अघायु है) (अघायु के लिये देखें नीचे—ङ) ॥

(ग) णेश्छन्दसि (३।२।१३७)। ण्यन्ताद्धातोश्छन्दसि इष्णुच् स्यात् तच्छीलादिषु । 'वीरुधः पारयिष्णवः' ॥

(घ) भुवश्च (३।२।१३८)। अस्मात्केवलात्प्राग्वत् । भविष्णुः॥

(ङ) वा०—'छन्दसि परेच्छायां क्यच उपसंख्यानम्' (३।१।८ सूत्रे वार्तिकम्)। **'क्याच्छन्दसि'** (३।२।१७०)। उप्रत्ययः स्यात्। अघायुः (ऋ० १।१४७।४)॥

(च) वा०—'एरज़धिकारे जवसवौ छन्दसि वाच्यौ' (३।३।५६ सू० वा०)। 'जवे याभिर्यूनः' (ऋ० १।११२।२१ । ऊर्वोमें जवः। 'देवस्य सवितुः सवे' (वाज० ११।२)

अष्टाध्यायी ३।२।१३४ सूत्र में कहा गया है कि क्विप् प्रत्यय तक के सारे सूत्रों में निर्दिष्ट प्रत्यय इन अर्थों में होते हैं—तच्छील (यह उसका स्वभाव है), तद्धर्म (यह उसका धर्म है) और तत्साधुकारी (उसे अच्छी तरह करता है)। ये सभी अर्थ कर्तृवाचक हैं। णि-(च् , ङ्) अन्तवाले धातु से भी वेद में इन्हीं (तच्छीलादि) अर्थों में इष्णुच् प्रत्यय होता है। √पॄ+णिच्+इष्णुच्=पारयिष्णुः=पारयितुं शीलमस्य, धर्मोऽस्य, साधु पारयति वा। 'सामर्थ्यवान् वृक्ष सब…'।

अकेले भू-धातु में भी इष्णुच् होता है जैसे—भवितुं शीलमस्य, धर्मः अस्य, साधु भवति वा—भविष्णुः।

नामधातु का क्यच् प्रत्यय वहाँ होता है जहाँ अपनी इच्छा व्यक्त की जाय। जिस चीज की इच्छा की जाय उसके बोधक सुबन्त से क्यच् प्रत्यय होता है (सुप आत्मनः क्यच् ३।१।८) जैसे—आत्मनः पुत्रमिच्छति=पुत्रीयति किन्तु वेद में दूसरे की इच्छा होने से भी क्यच् होता है। उपसंख्यान=इसे भी सूत्र में जोड़ दें। परस्य अघं (पापम्) इच्छति–अघायति (अश्वाघस्यात् ७।४।३७ से आकर)। वेद में क्य (च्, ङ्, ष्) के बाद भी उ प्रत्यय होता है जैसे, अघ+क्यच्+उ=अघायुः (दूसरे के लिए पाप चाहने वाला)।

लोक में इकारान्त धातु से अच् प्रत्यय होता है (एरच् ३।३।५६) किन्तु वेद में जव और सव शब्द भी अच् से ही सिद्ध हों यद्यपि इनके धातु (जु सौत्रो धातुः, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, षु प्रसवैश्वर्ययोः) इकारान्त नहीं हैं। इस

धातुओं में 'ऋदोरप्' (३।३।५७) के द्वारा अप् प्रत्यय लगता क्योंकि ये उकारान्त हैं और अप् होता भी है ऋकारान्त या उकारान्त से। अप् और अच् में क्या भेद है? अप् होने से अन्तोदात्त नहीं होता जब कि अच् चित् होने के कारण 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त कर देता है। 'युवक के वेग में जिनके द्वारा…', 'मेरी जंघाओं का वेग', 'सवितृ-देव के उत्पादन कर्म में…'। जु+अच्—गुण, अवादेश—जवः (वेगः)।

(३४) मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः (३।३।९६)। वृषादिभ्यः क्तिन् स्यात् स चोदात्तः। 'वृष्टिं दिवः' (ऋ० १।११६। १२)। 'सुम्नमिष्टये'। 'पचात्पक्तीरुत'। 'इयं ते नव्यसी मतिः'। वित्तिः। भूतिः। 'अग्न आ याहि वीतये' (सा० वे० १।१।१)। 'रातौ स्यामोभयासः'॥

वेद में √वृष् (सींचना), √इष् (इच्छा करना), √पच् (पकाना) √मन् (जानना, समझना), √विद् (जानना), √भू (होना), √वी (गति, व्याप्ति, प्रजन, कान्ति, आसन, भोजन) तथा √रा (दान) से क्तिन् प्रत्यय होता है और वह प्रत्यय उदात्त हो जाता है। रा में पञ्चमी के अर्थ में प्रथमा है, अर्थ है—रा-धातु से। √वृष्+क्तिन् (ति)=(ष्टुना ष्टुः ८।४।४१ से ति का टि) वृष्टिः। 'स्वर्ग से वृष्टि'। √इष्+क्तिन्=इष्टिः। 'बल की इच्छा से'। √पच्+क्तिन्=(चोः कुः ८।२।३० से च् का क्) पक्तिः। 'और वह पाक करे'। √मन्+क्तिन्= (अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६।४।३७ से धातु के न् का लोप) मतिः। 'यह तुम्हारी नूतनतर बुद्धि या स्तुति है'। उसी प्रकार वित्ति (ज्ञान), भूति (समृद्धि)। वीति=भोजन। 'हे अग्नि, भोजन के लिए आइये'। राति=दान। 'दान में दोनों रहें'। प्रत्यय (क्तिन्) के कित् होने से 'क्ङिति च' (१।१।५) के अनुसार कहीं भी गुण या वृद्धि नहीं हो सकी है॥

(३५) छन्दसि गत्यर्थेभ्यः (३।३।१२९)। ईषद्दुःसुषूपपदेषु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि युच्स्यात्। खलोऽपवादः। 'सूपसदनोऽग्निः' (तै० सं० ७।५।२०।१)॥

(३६) अन्येभ्योऽपि दृश्यते (३।३।१३०)। गत्यर्थेभ्यो येऽन्ये

धावतः तेभ्योऽपि छन्दसि युच्स्यात्। 'सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्' (ऋ० १०।११२।८)

वेद में ईषद्, दुः, सु के उपपद में होने पर 'गति' अर्थवाले धातुओं से युच् प्रत्यय होता है। यह खल् प्रत्यय का अपवाद है। यहाँ 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (३।३।१२६) से खल् होता, जिसे यह प्रत्यय रोक देता है। सु+उप+√सद्+युच्=(युवोरनाकौ ७।१।१ मे यु का अन) सूपसदनः= 'अग्नि सुप्राप्य हैं'। 'गति' अर्थ से भिन्न अर्थवाले धातुओं से भी वेद में युच् प्रत्यय होता है। सु+√विद्+युच्+टाप्—सुवेदना। 'तुमने ब्रह्म के लिए अच्छी तरह समझने योग्य प्रार्थना की है'। (√विद् को गुण 'पुगन्तलघूपधस्य' ७।३।८६ से)॥

(३७) **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३।४।६)।** धात्वर्थानां सम्बन्धे सर्वकालेष्वेते वा स्युः। पक्षे यथास्वं प्रत्ययाः। 'देवो देवेभिरागमत्' (ऋ० १।१।५)। अत्र लोडर्थे लुङ्। 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' (ऋ० १०।८५।१६)। लङ्—'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः'। लिट्—अद्या ममार'। अद्य म्रियत इत्यर्थः॥

वर्तमान सूत्र का सम्बन्ध इस सूत्र से है–'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' (३।४।१)* इसका अर्थ इस प्रकार है—जब धातुओं के अर्थों का सम्बन्ध दिखाया जाता है तब वे प्रत्यय भी शुद्ध माने जाते हैं जिनका विधान भले ही दूसरे काल के निर्देश के लिए हुआ हो। अपने विहित काल से भिन्न काल में भी प्रत्ययों का प्रयोग हो सकता है यदि धातुओं के अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रखा जा रहा हो, जैसे—अग्निष्टोमयाजी (भूतकाल) अस्य पुत्रो जनिता (भविष्यत्काल) यहाँ यज् धातु से णिनि का प्रयोग भूतकालिक है, जन् धातु से लुट् का प्रयोग भविष्यत्कालिक है। दोनों का सम्बन्ध दिखाया जा रहा है तो काल के भेद के कारण प्रत्ययों के प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं है। प्रयोग सही है।

इसी प्रकार वेद में, धात्वर्थों के सम्बन्ध में लुङ्, लङ् और लिट् लकार भी सभी काला में विकल्प से होते हैं भले ही उस काल-विशेष के लिए इनका विहित नहीं किया गया हो। विधान तो यह है कि सामान्य भूत में लुङ्

---

* धात्वर्थानां सम्बन्धेऽयथाकालोक्ताः प्रत्यया अपि साधवः।

अनद्यतन भूत में लङ् और परोक्ष भूत में लिट् लकार लगता है, इसलिए विकल्प से इन कालों में भी ये लकार होते हैं। 'देवताओं के साथ देव (अग्नि) आयें'—यहाँ 'आगमत्' लुङ् लकार का रूप है किन्तु अर्थ लोट् (अनुज्ञा) का है। 'यह नमस्कार मैं उनके लिए करूँ'—यहाँ 'अकरम्' (√कृ + लुङ्—'कृमृदृरुहिभ्यश्चन्दसि' ३।१।५९ से च्लि का अङ्) लुङ् का रूप है किन्तु अर्थ लोट् का है। पुनः, 'यह यजमान आज अग्नि को ही होता के रूप में वरण करता है'—यहाँ 'अवृणीत' लङ् का रूप है किन्तु अर्थ लट् (वर्तमान-काल) का है। 'आज मरता है'—यहाँ √मृ से बना हुआ 'ममार' लिट् (परोक्ष भूतकाल) के रूप में है किन्तु अर्थ है लट् का। वेदों में लकारों का कोई निश्चित विभाजन न होने से ही ऐसा होता था।

(लेट् लकार के रूप)

(३८) लिङर्थे लेट् (३।४।७)। विध्यादौ हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्याच्छन्दसि ॥

(३९) सिब्बहुलं लेटि (३।१।३४)।

(४०) इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३।४।९७)। लेटस्तिङामितो लोपो वा स्यात्परस्मैपदेषु ॥

लिङ् लकार के अर्थ में धातु से लेट् लकार वेद में होता है। लिङ् लकार कई अर्थों में होता है—'विधि-निमन्त्रण-आमन्त्रण-अधीष्ट (सत्कार)-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु' (३।३।१६१), 'हेतुहेतुमतोः'=कारण+फल (३।३।१५६), 'इच्छार्थेषु' (१५७), समानकर्तृक इच्छार्थ में (१५८), 'ऊर्ध्वंमौहूर्तिके' (१६४) 'लिङ् यदि' (१६८), 'शकि लिङ् च' (१७२), 'आशिषि' (१७३)—इन सूत्रों पर काशिकावृत्ति देखें। इसलिए विधि आदि अर्थों में और कारण-कार्य आदि अर्थों में लेट् होता है। आदि से इन सभी सूत्रों को समझ लें।

लेट् लकार में बहुल रूप से सिप् होता है। सिप् को काशिका में प्रत्यय कहा गया है, नागेश इसे विकरण कहते हैं। सिप् के बाद शप् होता है तब तिप् आदि।

परस्मैपद में लेट् लकार के तिङ् (तिप् तस्...महिङ्) के इकार (ह्रस्व) का बहुल रूप से लोप हो जाता है। प्रयोग के लिए आगे देखें ॥

(४१) **लेटोऽडाटौ (३।४।९४)**। लेटः अट् आट् एतावागमौ स्तः तौ च पितौ। वा०—**'सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः'**। वृद्धिः। 'प्र ण आयूंषि तारिषत्' (ऋ० १।२५।१२)। 'सुपेशस्करति जोषिषद्धि' (ऋ० २।३५।१)। 'आ सावि॑षदर्श॑सानाय'। सिपः इलोपस्य च अभावे—'पताति दि॒द्युत्'। 'प्रि॒यः सूर्ये प्रियो अ॒ग्ना भ॑वाति' (ऋ० १०।४५।१०) ॥

लेट् लकार के आदेशों (तिप् तस्.........) में अट् या आट् ये दो आगम होते हैं और ये पित् माने जाते हैं। चूंकि ये दोनों आगम टित् (ट् की इत्संज्ञा वाले) हैं अतः इन्हें 'आद्यन्तौ टकितौ' (१।१।४६) के अनुसार तिप् आदि के पूर्व में रखते हैं। वार्तिककार का कहना है कि सिप् विकरण (या प्रत्यय) को जो लेट् में ही लगता है (दे० ३९), बहुल रूप से णित् मानें, जिससे वृद्धि हो जाय। णित् और ञित् प्रत्ययों के होनेपर वृद्धि होती है (अचो ञ्णिति, अत उपधायाः ७।२।११५–११६)। तॄ (प्लवनतरणयो- डूबना, तैरना) + लेट् (तिप्) = वृद्धि और रपर होकर तार् + इट् (आर्धधातुकस्येड्वलादेः ७।२।३५) + सिप् + अट् + तिप् (त्) = तार् इ स् अ त् = आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९ से स् का ष्—वर्णसम्मेलन करने पर तारिषत्। 'वह हमारी आयु को बढ़ावें'। जुषी प्रीतिसेवनयोः, यद्यपि इसमें ई अनुदात्त की इत्संज्ञा होती है इसलिए इसका शुद्ध रूप आत्मनेपद ही में होगा[1], व्यत्यय से ही परस्मैपद रूप बना है। जुष् + इट् + सिप् + अट् + तिप्। यहाँ 'पुगन्तलघूपधस्य' से गुण हो गया 'जोषिषत्'—'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' से ति का त्। आङ् + षु (प्रसवैश्वर्ययोः) + इट् + सिप् + अट् + तिप् = आसाव् इ स् अ त् = आसाविषत्।

निम्नोक्त उदाहरणों में सिप् भी नहीं है और इ का लोप भी नहीं हुआ है—पत् + आट् + तिप् = पताति। 'चमकनेवाली (बिजली) गिरे'। उसी प्रकार भवाति।

---

१. द्रष्टव्य—अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२

लेट् लकार पाणिनी की दृष्टि से अत्यन्त जटिल लकार था क्योंकि इसमें सिप्, शप्, अट्, आट् तथा सिप् के णित्त्व की वैकल्पिकता से केवल भू-धातु के प्रथम पुरुष एकवचन (परस्मैपद) में ही निम्नलिखित १२ रूप हो सकते थे—भाविषति, भाविषाति, भविषति, भविषाति, भवति, भवाति, भाविषत्, भाविषात्, भविषत्, भविषात्, भवत्, भवात्। इसी प्रकार की जटिलता आत्मनेपद में भी थी। इसी के कारण इसका बहिष्कार संस्कृत भाषा से हो गया।

(४२) **स उत्तमस्य** (३।४।९८)। लेडुत्तमसकारस्य वा लोपः स्यात्। करवाव करवावः ॥ टेरेत्वम्।

(४३) **आत ऐ** (३।४।९५)। लेट आकारस्य ऐ स्यात्। 'सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते'। आतामित्याकारस्य ऐकारः। विधिसामर्थ्यादाट ऐत्वं न। अन्यथा हि ऐटमेव विदध्यात्। 'यो यजाति यजात इत्'।

लेट् लकार में उत्तम-पुरुष के सकार (वस्, मस्) का विकल्प से लोप हो जाता है। इस प्रकार √कृ+वस्=कृ (कर्) +उ (विकरण)= करु (गुण होनेपर, करो)+आट्+वस्=करवावः (स लोप नहीं होने से), या करवाव (स लोप)। यों तो अन्तिम स् का लोप ('हलन्त्यम्' सूत्र से) हो ही सकता था किन्तु 'न विभक्तौ तुस्माः' (१।३।४) से उसका निषेध हो गया था क्योंकि विभक्ति (सुप्, तिङ्) के अन्तिम तवर्ग, सकार या मकार की इत्संज्ञा नहीं होती। इसी सूत्र की प्राप्ति को रोकने के लिए उपर्युक्त सूत्र रखा गया है।

लट्, लोट् आदि (ट् की इत्संज्ञा वाले) लकारों में टि-भाग (अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४) का एकार-आदेश हो जाता है (टित आत्मनेपदानां टेरे ३।४।७९)। लेट् में यदि ऐसी बात हो तो आ के स्थान में ऐ हो जाता है। उदाहरणार्थ 'आताम्' (प्र० पु०, द्विव०) के टि-अंश का 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एकार होकर 'आते' बना। पुनः प्रस्तुत सूत्र (आत ऐ) से आ का ऐकार होकर 'ऐते' प्रत्यय बना। यह 'मादयैते' प्रयोग में दृष्टिगत होता है।

लेट् लकार में दो आकार होते हैं—एक तो आट् (आगम) का, दूसरा आताम् का। इस सूत्र में आताम् के पहले आकार को ही ऐकार करने का अभिप्राय है, आट् के आकार को नहीं। कारण यह है कि सूत्रकार (पाणिनी) ने आट् का विधान किया है, यदि आट् को ऐ ही करना था तो आट् कहते ही नहीं, ऐट् का ही (लेटोऽडैटौ) कहकर विधान करते। इसलिए सिद्ध होता है कि आताम् के आकार पर ही इसका फल पड़ता है। √मद्+णिच् (स्वार्थ) +आट्+आताम्=मादि (गुण, मादे) +आ+ऐते (टित आत्मनेपदानां टेरे—त् के बाद का आम् टि है उसका ए) = (अयादेश करके) मादयैते। 'वे दोनों पुत्रों तथा अन्न के द्वारा प्रसन्न हों।' यदि आट् के आकार को ऐ होता तो 'यजाते' शब्द नहीं बन सकता। √यज् + आट्+ते =यजाते, ऐ होते पर 'यजैते' बन जाता।

(४४) वैतोऽन्यत्र (३।४।९६)। लेट एकारस्य ऐ स्याद्वा। 'आत ऐ' इत्यस्य विषयं बिना। 'पशूनामीशै'। 'ग्रहा गृह्यान्तै'। अन्यत्र किम् ? सुप्रयसा मादयैते।

उपर्युक्त (आत ऐ) सूत्र के द्वारा होनेवाले स्थानों से भिन्न स्थानों में लेट् के एकार का विकल्प से ऐकार होता है जैसे √ईश्+इट् (उत्तम० एक० व०)=एत्व—ईश्+ए (ऐ)=ईशै। 'मैं ही पशुओं पर शासन करूँ'। यहाँ टि को ए होते-होते ऐ हो गया। √ग्रह् (कर्मवाच्य में)+लेट्—झि= ग्रहिज्या० ६।१।१६ से सम्प्रसारण—गृह+यक्+आट्+अन्त=टि को ए तथा उसका ऐ—गृह्यान्तै। 'ग्रह पकड़े जायें'। अन्य स्थानों में होगा ऐसा क्यों कहा ? जहाँ आताम् के प्रथम आ को ऐ होगा, वहाँ टि को ऐ नहीं होता जैसे—मादयैते। दूसरे एकार (टि) को ऐ नहीं हुआ।

(४५) उपसंवादाशङ्कयोश्च (३।४।८)। पणबन्धे आशङ्कायां च लेट् स्यात्। 'अहमेव पशूनामीशै। 'नेञ्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम'।

उपसंवाद का अभिप्राय है—कर्त्तव्य में बाँधना (Conditional contract) अर्थात् यदि आप ऐसा करें तो मैं आपको दूँ। इसमें प्रथम वाक्य-खण्ड उप संवाद (Condition) है। कारण से कार्य की सम्भावना आशंका कहलाती है। इन दोनों अर्थों में वैदिक भाषा में धातु से लेट् लकार होता है जैसे—

अहमेव पशूनामीशै (उपसंवाद अर्थ में)—ईश्+लेट् (उ० पु०, एकवचन) =ईशै—मैं यह कर सकता हूँ 'यदि मैं ही सभी पशुओं पर शासन करूँ'। 'नेत् जिह्मायन्त्यो नरकं पताम' (आशंका अर्थ में)—पत्+लेट् (उ० पु०, बहुवचन—पताम। 'ऐसा न हो कि पाप करते-करते हम नरक में गिरें।

(४६) **हलः श्नः शानज्झौ—छन्दसि शायजपि** (३।१।८४)। अपि शब्दाच्छानच्। (वा०) **हृग्रहोर्भश्छन्दसि**—इति हस्य भः। 'गृभाय जिह्वया मधु' (ऋ० ८।१७।५)। 'बधान देव सवितः'। 'अनिदिताम्–' (६।४।२४) इति बध्नातेः नलोपः। 'गृभ्णामि ते' (ऋ० १०।८५।३६)। 'मध्वा जभार'।

लोट् लकार के मध्यम पुरुष में सि के स्थान में हि आदेश होता है (३।४।८७)। क्र्यादि-गण में श्ना-विकरण होता है। ऐसें (क्र्यादि-गण के) धातु यदि हलन्त हों तो हि पर में होने से श्ना का शानच् आदेश हो जाता है। जैसे—ग्रह्—गृहाण, मुष्—मुषाण। वेद में शानच् के स्थान में शायच् भी होता है, 'अपि' कहने से शानच् भी होगा। √हृ और √ग्रह् धातु के रूपों में ह् का वेद में भ् हो जाता है। √ग्रह् (क्र्यादिगृह्णाति)+लोट् (मध्य० एक०)=गृभ्+शानच् (शायच्)=गृभाय। 'जीभ से मधु ग्रहण करो। जहाँ शायच् नहीं होता वहाँ शानच्—√बन्ध्+शानच्=बधान। यहाँ 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से √बन्ध् के उपधा न का लोप हो गया क्योंकि धातु हलन्त है, उसमें इ की इत्संज्ञा भी नहीं है, पर में ङित् प्रत्यय भी है। हि इसलिए ङित् है कि इसे 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) में अपित् माना गया है और अपित् सार्वधातुकप्रत्यय ङित् के तुल्य समझे जाते हैं (सार्वधातुकमपित् १।२।४)। अस्तु √बन्ध् के न लोप के बाद 'बधान' बना। 'हे देव सवितः! आप बाँधिये'।

हृ के भ होने के अन्य उदाहरण देते हैं—गृह्णामि के स्थान में—गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्—वर वधू को कहता है कि मैं तुम्हारा हाथ सौभाग्य के लिए पकड़ता हूँ। जहार से जभार—'मधु लाया' (आजभार)।

(४७) **व्यत्ययो बहुलम्** (३।१।८५)। विकरणानां बहुलं व्यत्ययः स्याच्छन्दसि। 'आण्डा शुष्मस्य भेदति' (ऋ० ८।४०।

११)। भिनत्तीति प्राप्ते। 'जरसा मरते पतिः' (ऋ० १०।८६।१)। म्रियत इति प्राप्ते। 'इन्द्रो वस्तेन नेषतु'। नयतेः लोट् शप्सिपौ द्वौ विकरणौ। 'इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्' (ऋ० ७।४८।१)। तरेमेत्यर्थः। तरतेर्विध्यादौ लिङ्। ऊः, शप्, सिप् चेति त्रयो विकरणाः।

विकरणों के प्रसंग में यह सूत्र दिया गया है इसलिए अर्थ हुआ कि विकरण (धातु और तिङ् के बीच में आनेवाले प्रत्यय) भिन्न प्रकार से अपने नियमों का उल्लंघन करते हैं। कहीं तो दूसरा विकरण हो जाता है, कहीं दो और कहीं तीन विकरण हो जाते हैं। √भिद् का रुधादि होने के कारण 'श्नम्' होकर भिनत्ति होना था किन्तु व्यत्यय के कारण शप् हो गया, √भिद्+शप्+तिप्—(पित् होने से धातु की उपधा का गुण—पुगन्तलघूपधस्य)=भेदति। √मृ=प्राणत्याग, इनमें 'श' विकरण (तुदादिभ्यः शः) होकर 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' (७।४।२८) से रिङ् आदेश होकर 'म्रि' और 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) से इयङ् आदेश होकर 'म्रियते' बनता। किन्तु विकरण बदलकर, 'शप्' कर देने पर केवल गुण होकर (सार्वधातुकार्धधातुकयोः) 'मरते' बन जाता है। इस प्रकार विकरणों की बदला बदली होती है।

यही नहीं, √नी में लोट् लकार में शप् और सिप् दो-दो विकरण होकर (पित् के कारण गुण होते हुए) 'नेषतु' रूप बनता है (आदेशप्रत्यययोः से षत्व)। लौकिक-रूप—नयतु। 'तरुषेम' में तो तीन-तीन विकरण हुए हैं—उ (तनादि-जैसा), शप्, सिप्। तॄ+उ+सिप्+शप्+मस्=तर्+उ+स्+अ+यासुट्+मस्= (यासुट् परस्मैपदेषु०) = ('लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से यासुट् के स् का लोप, 'नित्यं ङितः' से मस् के स का लोप, 'अतो येयः' से या का इय् आदेश) तरुष+अ+इय्+म=('लोपो व्योर्वलि' से य् का लोप) तरुषेम=तरेम (लौकिक रूप)। यह विधिलिङ् का रूप है। 'इन्द्र के साथ हम वृत्र को पार कर जायँ (मार दें)'।

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।

'धुरि दक्षिणायाः (ऋ० १।१६४।९)। दक्षिणस्यामिति प्राप्ते।

'चुषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' (ऋ० १।१६२।६) तक्षन्तीति प्राप्ते। उपग्रहः परस्मैपदात्मनेपदे। 'ब्रह्मचारिणमिच्छते'। इच्छतीति प्राप्ते। 'प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति'। युध्यत इति प्राप्ते। 'मधोस्तृप्ता इवासते'। मधुनः इति प्राप्ते। नरः पुरुषः। 'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः' (ऋ० ७।१०४।१५)। वियूयात इति प्राप्ते। कालः कालवाची प्रत्ययः। 'श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन'। लुटो विषये लृट्। 'तमसो गा अदुक्षत्'। अधुक्षत् इति प्राप्ते। मित्रं वयं च सूरयः'। मित्रा वयमिति प्राप्ते। स्वरव्यत्ययस्तु वक्ष्यते। कर्तृशब्दः कारकमात्रपरः। तथा च तद्वाचिनां कृत्तद्धितानां व्यत्ययः। 'अन्नादाय'। 'अण्विषयेऽच्। अवग्रहे विशेषः यङो यशब्दादारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' इति ङकारेण प्रत्याहारः। तेषां व्यत्ययो भेदतीत्यादिः उक्त एव॥

प्रस्तुत श्लोक का उद्धरण महाभाष्य में है। शास्त्रकार पाणिनी न केवल विकरणों का, प्रत्युत व्याकरण के अन्य तत्त्वों का भी व्ययत्यय प्रस्तुत सूत्र के द्वारा करना चाहते हैं। वे तत्त्व हैं—(१) सुप्, (२) तिङ्, (३) उपग्रह (परस्मैपद-आत्मनेपद), (४) लिङ्ग, (५) नर (पुरुष), (६) काल (काल का बोध कराने वाले प्रत्ययों का व्यत्यय), (७) हल् (व्यञ्जन), (८) अच् (स्वरवर्ण), (९) स्वर (accent), (१०) कर्त्ता (सभी कारक, उसके अन्तर्गत कृत और तद्धित), (११) यङ् (प्रत्याहार—'सार्वधातुके यक्' ३।१।६७ के य से लेकर 'लिङ्याशिष्यङ्' ३।१।८६ के ङ् तक)। इन सभी तत्त्वों का आचार्य पाणिनी व्यत्यय करना चाहते हैं जिनके उदाहरण निम्नलिखित हैं।

(१) सुप्—'दक्षिणस्याम्' (सप्तमी ङि) के स्थान में 'दक्षिणायाः' (षष्ठी ङस्)। (२) तिङ्—तक्षन्ति (झि) के स्थान में 'तक्षति' (तिप्)। (३) उपग्रह–'इच्छति' (परस्मैपद) के स्थान में 'इच्छते' (आत्मनेपद)। उसी प्रकार 'युध्यते (आत्म०) के स्थान पर 'युध्यति' (पर०)। (४) लिङ्ग—क्लीबलिङ्ग में होने वाले 'मधु' की षष्ठी 'मधुनः' के स्थान में इसे पुँल्लिङ्ग समझकर 'मधोः'। (५) पुरुष–'वियूयात्' (प्रथमपुरुष) के स्थान में 'वियूयाः'

(मध्यमपुरुष), भले ही इसका अर्थ प्रथम पुरुष का है । (√यु + विधिलिङ्
(६) काल—'कल अग्नियों को रखनेवाले ने' । यहाँ आ + √धा में
होना चाहिये (अनद्यतने लुट् ३।३।१५) क्योंकि भविष्यत्काल अनद्य
में है, तथापि लृट् के हुआ । 'आधाता' के स्थान में 'आधास्यमानः' (
सद्वा ३।३।१४ से लृट् के बाद शानच्) । (७) हल्—√दुह् + लुङ् (
=अ दुह् स् (क्स) + शप् त् = ('एकाचो बशो भष्०' से) अधुक्ष
इसके स्थान में भष् न होकर 'अदुक्षत्' । हल् (व्यञ्जनवर्ण) का व्यत्यय है
(८) अच् (स्वरवर्ण)—दीर्घ के स्थान में ह्रस्व । 'मित्रा के स्थान
'मित्र' । (९) स्वर—इसका व्यत्यय स्वरप्रक्रिया में दिखलाया जायेगा
सुबोधिनी में इसका उदाहरण दिखलाया गया है । 'गवामिव श्रियसे' में
से क्सेन् प्रत्यय किया गया है । 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' ६।१।१९७ के अनुसार
प्रत्यय लगने पर आद्युदात्त होता है किन्तु यहाँ व्यत्यय के कारण मध्योदात्त
हो गया है । (१०) कर्त्ता—कर्तृ शब्द सभी कारकों का उपलक्षण है
कारकमात्र का बोधक होने से कर्ता, कर्म इत्यादि में होने वाले कृत्
तद्धितों का भी यह बोधक है । उनका भी व्यत्यय देखा जाता है । जैसे-
'अन्नादाय' में अण् के स्थान पर अच्-प्रत्यय हुआ है । 'कर्मण्यण्' (३।२।
से कर्म के उपपद होने पर धातु से अण्-प्रत्यय होता है—अन्नमत्ति इति (
+ √अद् + अण् = अन्न आद—अन्नाद) । यही विहित है, किन्तु व्यत्यय
अच्-प्रत्यय हुआ है—अन्न + √अद् + अच् = अन्न अद = अन्नाद । अण् में '
उपधायाः' से उपधावृद्धि । अब प्रश्न है कि जब दोनों से 'अन्नाद' ही ब
है तब कैसे आप अच् समझ लेते हैं, अण् ही क्यों नहीं समझते ? व्यर्थ
आपत्ति उठा रहे हैं । उत्तर है कि इन दोनों का अन्तर तो अब मालूम
हो जाता है जब पद-पाठ में 'अन्नऽअदाय' कर देते हैं, यह स्पष्ट रूप से
का काम है । अण् होने पर 'अन्नऽअदाय' होता । पद-पाठ को देखकर
दीक्षितजी कहते हैं कि अण् के स्थान में व्यत्यय से अच् किया है ।

(११) यङ्—यह कोई प्रत्यय नहीं, बल्कि प्रत्याहार है । 'सार्वधातुके
यक्' के य से आरम्भ करके 'लिङ्याशिष्यङ्' के ङ् को मिलाकर यङ् प्रत्याहार
बनता है । इस प्रत्याहार में सभी विकरण आ जाते हैं । विकरणों का व्यत्यय
तो 'व्यत्ययो बहुलम्' के साथ हो ही गया है ।

सच पूछा जाय तो वेद के सभी रूपों की सिद्धि के लिए 'बहुलं छन्दसि' और 'व्यत्ययो बहुलम्' ये दो सूत्र ही पर्याप्त हैं। अन्य सूत्र तो इन्हीं के प्रपञ्चमात्र हैं।

(४८) लिङ्याशिष्यङ् (३।१।८६)। आशीर्लिङि परे धातोरङ् स्याच्छन्दसि। 'वच उम्' (७।४।२०)—'मन्त्रं वोचेमाग्नये'। (वा०) **दृशेरग्वक्तव्यः।** 'पितरं च दृशेयं मातरं च'। अङि तु 'ऋदृशोऽङि' (७।४।१६) इति गुणः स्यात्॥

वेद में धातुओं के बाद आशीर्लिङ् होने पर अङ् हो जाता है। 'वच उम्' सूत्र के अनुसार√वच् में उम् का आगम होता है। मित् होने के कारण यह अन्त्य स्वर के बाद पड़ेगा (मिदचोन्त्यात्परः)। व+उ+च्+अङ्+यासुट् (इय्)+मस्=वोच इय् मस् (सलोप, यलोप) करने पर 'वोचेम'। 'अग्नि के लिए मंत्र बोलें।' कात्यायन के अनुसार√दृश् से अक् (अङ् के स्थान में) होता है इसलिये दृश्+अक्+इय्+अम्=दृशेयम्। यदि अङ् होता तो 'ऋदृशोऽङि गुणः' हो जाता और 'दर्शेयम्' रूप होता। 'मैं माता-पिता को देखूं।'

(४९) छन्दस्युभयथा[1] (३।४।११७)। धात्वधिकारे उक्तः प्रत्ययः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञः स्यात्। 'वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः'। वर्धयन्तु इत्यर्थः। आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः। 'विशृण्विरे'। सार्वधातुकत्वात् श्नुः शृभावश्च। 'हुश्नु०' (६।४।८७) इति यण्।

अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय के अन्त में धातु से विहित प्रत्ययों को सार्वधातुक तथा आर्धधातुक—इन दो भागों में विभक्त किया गया है। सामान्यतः तिङ् तथा शित् (श् की इत्संज्ञा वाले) प्रत्यय सार्वधातुक कहलाते हैं तथा शेष आर्धधातुक प्रत्यय हैं। लिट् तथा आशीर्लिङ् के प्रत्यय भी आर्धधातुक ही हैं। दोनों के कुछ कार्य पृथक् होते हैं। वैदिक भाषा में इन दोनों के भेद की रेखा दृढ़ नहीं है। सार्वधातुक के स्थान में आर्धधातुक तथा आर्ध० के स्थान में सार्व० मान लेना साधारण बात है। शब्द-सिद्धि में कार्य को देखकर ये संज्ञायें मानी जाती हैं। इस प्रकार धातु के अधिकार में पठित

---

(१) तिङ् शित्सार्वधातुकम्, आर्धधातुकं शेषः (३।४।११३-१४)।

प्रत्यय वैदिक भाषा में सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनों ही हो जाते हैं जैसे √वृध् + णिच् + लोट् (अन्तु)=गुण होकर 'वर्धयन्तु' होता, किन्तु यहाँ लोट् (अन्तु) को आर्धधातुक मानकर, 'णेरनिटि' (६।४।५१) से णि का लोप करने पर 'वर्धन्तु' रूप हो जाता है। इस प्रकार सार्वधातुक के अधिकार में आर्धधातुक टपक पड़ा।

इसका उल्टा भी होता है। वि + √श्रु + लिट् (इरे–लिटस्तझयोरेशिरेच् ३।४।८१)। लिट् आर्धधातुक प्रत्यय है, फिर भी सार्वधातुक मान लिया गया। 'स्वादिभ्यः श्नुः' से श्नु विकरण हुआ तथा श्नु का शृ आदेश (श्रुवः शृ च) हो गया। वि शृ नु + इरे ('रषाभ्यां नो णः समानपदे' से णत्व तथा 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण्) विशृण्विरे। इस प्रकार सार्वधातुक ने आर्धधातुक का स्थान लिया।

(क) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (३।२।१७१)। आदन्तात् ऋवर्णान्तात् गमादेश्च किकिनौ स्तः, तौ च लिड्वत्। 'ब॒भ्रि॒र्वज्रं॑, प॒पिः सोमं॑, द॒दिर्गाः' (ऋ० ६।२३।४) ज॒ग्मिर्युवा (ऋ० २।२३।११), जघ्निर्वृत्रममित्रियम्'। जज्ञिः (तै० सं० ७।५।२०।१)। लिड्वद्भावादेव सिद्धे 'ऋच्छत्यृताम्' (७।४।११) इति गुणबाधनार्थं कित्त्वम्। 'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०३) इति उत्वम्। ततुरिः (ऋ० ४।३९।२) जगुरिः (ऋ० १०।१०८।१)॥

आकारान्त या ऋकारान्त धातु से, गम्, हन् और जन् से कि तथा किन् प्रत्यय होते हैं और इन्हें लिट् समान माना जाता हैं। √भृ + कि या किन् लिट् की तरह अभ्यास आदि 'बभ्रिः', √पा + कि=पपिः, √दा + कि=ददिः, √गम् + कि=जग्मिः, √हन्—जघ्निः, √जन्—जज्ञिः। कि और किन् में स्वर का भेद है—कि होने पर अन्तोदात्त, किन् होने पर आद्युदात्त। लिट् कित् माना जाता है, जब इस सूत्र में लिट्वत् कह दिया तो फिर अलग से कि—किन् में कित् दुवारा मानने की क्या आवश्यकता है ? 'ऋच्छत्यृताम्' सूत्र के द्वारा लिट् लकार में (कित् होने पर भी) ऋकारान्त धातुओं का √ऋ या √ऋच्छ् का गुण हो ही जाता है उसी को रोकने के लिये प्रत्यय को भी कित् माना गया है। 'बहुलं छन्दसि' के द्वारा ऋकारान्त धातु का

बहुल-रूप से उकारादेश होता है—√तॄ + कि = ततुरिः, √गॄ—जगुरिः। तॄ = प्लवन, तरण, गॄ = निगरण (निगलना)।

(५०) **तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः** (३।४।९)। से—वक्षे रायः। सेन्—ता वामेषे (ऋ० ५।६६।३)। असे—शरदो जीवसे धाः (ऋ० ३।३६।१०)। असेन्—नित्त्वादाद्युदात्तः। क्से—प्रेषे। कसेन्—गवामिव श्रियसे (ऋ० ५।५९।३)। अध्यै, अध्यैन्— जठरं पृणध्यै। पक्षे आद्युदात्तम्। अध्यै, अध्यैन्—आहुवध्यै (ऋ० ६।६०।१३)। पक्षे नित्स्वरः। शध्यै—राधसः सह मादयध्यै (ऋ० ६।६०।१३)। शध्यैन्—वायवे पिबध्यै (ऋ० ४।२७।५)। तवै—दातवा उ। तवेङ्—सूतवे (ऋ० १०।१८४।३)। तवेन्—कर्त्तवे (ऋ० १।८५।९)॥

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में[1] धातु से निम्नलिखित पन्द्रह प्रत्यय वेद में होते हैं—(१) से—√वच् + से ('चोः कुः' से कवर्गादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से ष) = वक्षे = वक्षे। या √वह् + से ('हो ढः' से ढ् 'षढोः कः सि' से क्) = वक्षे। 'धनों को ढोने के लिए, पुकारने के लिए'। (२) सेन्—√इ + सेन् (आर्धधातुक के कारण गुण, षत्व) = एषे (जाने के लिए—एतुम्)। से और सेन में यही भेद है कि सेन् में नित् होने से आदि स्वर उदात्त होता है क्योंकि नियमानुसार ञित् और नित् प्रत्ययान्त शब्द आदि में उदात्त लेते हैं। (३) असे—√जीव् + असे = जीवसे। (४) असेन्—वही रूप होगा किन्तु आदि स्वर उदात्त। (५) क्से—प्रत्यय में क् की

---

१. तुमुन् का अर्थ है भाव, क्योंकि महाभाष्य में कहा है कि अव्यय होनेवाले कृदन्त प्रत्यय भाव में समझना चाहिये (अव्ययकृतो भावे भवन्ति)। भाव भी दो तरह के हैं—सिद्ध और साध्य। साध्य रूप भाव को प्रत्ययों के नाम से ग्रहण करते हैं जैसे—ल्यबर्थे, तुमर्थे। सिद्धभाव के लिये 'भावे' कहते हैं (क्तिन्, क्त, घञ् इत्यादि के साथ)। साध्य को धात्वर्थ भी कहते हैं। देखिये—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः॥

(वैयाकरण भूषणकारिका, १५)

इत्संज्ञा हो रही है (कित्) इसलिए गुणनिषेध—√इ + क्से = इसे (पत्व) प्र + इषे = प्रेषे (प्रगन्तुम्)। (६) कसेन्—√श्रि + कसेन् (असे, 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ६।४।७७ से इयङ् आदेश)—श्रिय् + असे = श्रियसे। (७–८) अध्यै-अध्यैन्—√पृ + अध्यै (श्ना-विकरण, 'प्वादीनां ह्रस्वः' से धातु का ह्रस्व)—पृणध्यै। अध्यैन् होने पर आद्युदात्त होता है। (९–१०) कध्यै-कध्यैन्—आ + √हु + कध्यै या कध्यैन्—दोनों दशाओं में गुणनिषेध (कित् होने से), उवङ् आदेश—आहुवध्यै, कध्यैन् होने पर नित् का स्वर (आदि उदात्त) होगा। आहुवध्यै। आ + √ह्वे से भी यह रूप संभव है ('वचिस्वपियजादीनां किति' ६।१।१५ से ह्वे का सम्प्रसारण क्योंकि यह यजादिगणीय है)। (११) शध्यै—√मद् + णिच् + शध्यै = (उपधा वृद्धि) माद् इ अध्यै = (सार्वधातुकगुण, अयादेश) मादयध्यै। (१२) शध्यैन्—√पा—पिबध्यै (पीने के लिए) पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) से शित् सार्वधातुक प्रत्यय के पूर्व पा-धातु का पिब् आदेश। (१३) तवै—√दा + तवै = दातवै उ (आयादेश, यलोप—'लोपः शाकल्यस्य') = दातवा उ। (१४) तवेङ्—√सू से ङित् होने के कारण गुणनिषेध—सूतवे (सोतुम्)। (१५) तवेन्—√कृ से गुण होकर कर्तवे।

नागेश का कथन है कि कध्यै, कध्यैन्, कध्यै और शध्यैन् ये चार प्रत्यय व्यर्थ हैं क्योंकि अध्यै, अध्यैन् से ही इनके कार्य बाहुलक-द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। 'पिबध्यै' में √पा का पिब् आदेश करना, 'आहुवध्यै' में गुणनिषेध (कित् के कारण) आदि सभी कार्य बहुल-रूप होते हैं। नागेश समझते हैं कि दीक्षित जी का भी यही विचार है।

(५१) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै (३।४।१०)। एते तुमर्थे निपात्यन्ते। प्रयातुं, रोढुम्, अव्यथितुमित्यर्थः ॥

(५२) दृशे विख्ये च (३।४।११) द्रष्टुं विख्यातुमित्यर्थः ॥

(५३) शकि णमुल्कमुलौ (३।४।१२)। शक्नोतावुपपदे तुमर्थे एतौ स्तः। 'विभाजं नाशकत्' 'अपलुपं नाशकत्'। विभक्तुम् अपलोप्तुमित्यर्थः ॥

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में प्रयै (प्रयातुम्), रोहिष्यै (रोहणाय)

अव्यथिष्यै (अव्यथनाय) शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। प्र+√या +कै=('आतो लोप इटि च' ६।४।६४ से आकारलोप) प्रयै। √रुह्+ इष्यै=(गुण)) रोहिष्यै। नञ्+√व्यथ्+इष्यै=अव्यथिष्यै।

दृशे (√ दृश्+के) और विख्ये (वि+√ख्या+के) शब्द भी तुमुन् के ही अर्थ में निपातन से होते हैं। दोनों का अर्थ है—'देखने के लिए'। उदाहरण (काशिका)—'दृशे विश्वाय सूर्यम्' (ऋ० १।५०।१)। 'विख्ये त्वा हरामि'।

यदि उपपद में √शक् का प्रयोग हो तो धातुओं से तुमुन् के ही अर्थ में णमुल् और कमुल्—ये दो प्रत्यय होते हैं। वि+√भज्+णमुल्=(णित् के कारण अ—उपधा की वृद्धि) विभाजम्=विभाग करने के लिए। अप+ √लुप्+कमुल्=अपलुपम्। 'विभाजन या लोप नहीं कर सका'। √शक् में श्नु-विकरण के स्थान में 'श' हुआ है। लङ् में—अशकत् (संस्कृत—अशक्नोत्)।

(५४) **ईश्वरे तोसुन्कसुनौ** (३।४।१३)। 'ईश्वरो विचरितोः'। 'ईश्वरो विलिखः'। विचरितुम्, विलेखितुमित्यर्थः।

(५५) **कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः** (३।४।१४)। 'न म्लेच्छितवै'। अवगाहे दिदृक्षेण्यः। 'भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्' (ऋ० १।१०।२)।

(५६) **अवचक्षे च** (३।४।१५)। 'रिपुणा नावचक्षे'। अवख्यातव्यमित्यर्थः॥

'ईश्वर' शब्द के उपपद में रहने पर वेद में तुमुन् के अर्थ में ये दो प्रत्यय और होते हैं—तोसुन्, कसुन्। वि+√चर्+तोसुन्। तोसुन् चूंकि आर्धधातुक प्रत्यय है इसलिए 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' ७।२।३५ के अनुसार इट्। विचरितोः=विचरण करने में समर्थ। उसी प्रकार वि+√लिख्+कसुन्= (कित् के कारण गुणनिषेध)=विलिखः=लिखने में समर्थ।

कृत्य प्रत्यय के अर्थ में (=भाव-कर्म में, 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः') ये चार प्रत्यय होते हैं—तवै, केन् केन्य, त्वन्। भ्वादि-गणीय √म्लेच्छ्+तवै+ इट् करने पर—म्लेच्छितवै=म्लेच्छितव्यम् अस्माभिः (भाववाच्य में)। तुमर्थ के तवै प्रत्यय से भी यही रूप बनता किन्तु यहाँ देने से इसका अर्थ

भाव और कर्म दोनों में हो गया तथा इससे योग्यता भी ज्ञात होने लगी कृत्य प्रत्यय योग्यता का अर्थ रखते हैं (अर्हे कृत्यतृचश्च)। अव+√गा +केन् = अवगाहे = अवगाहितव्यम्। केन्य—√दृश्+सन्+केन्य= ('सन्यङोः' से द्वित्व, गुण का निषेध)—दिदृक्षेण्यः=दिदृक्षणीयः (देखने की इच्छा करने योग्य)। त्वन्—√कृ+त्वन्=कर्त्वम् (कृत्यम्)।

अव पूर्वक √चक्ष् से एश् प्रत्यय का निपातन करके कृत्य के अर्थ में 'अवचक्षे' शब्द बनता है। एश् चूंकि सार्वधातुक है इसलिए 'चक्षिङः ख्याञ्' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। लोक में—'अवख्यातव्यम्' हो जायगा क्योंकि 'तव्यत्' आर्धधातुक है। 'शत्रु द्वारा कथनीय नहीं'।

(५७) **भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्** (३।४।१६) 'आसंस्थातोः सीदन्ति'। आसमाप्तेः सीदन्तीत्यर्थः। उदेतोः। अपकर्त्तोः। प्रवदितोः। प्रचरितोः (गोपथ ब्राह्मण २।२।१०)। होतोः। आतमितोः (तै० ब्रा० १।४।४।२)। 'काममाविजनितोः संभवामः' (तैत्ति० सं० २।५।१।५) इति श्रुतिः ॥

(५८) **सृपि-तृदोः कसुन्** (३।४।१७)। भावलक्षणे इत्येव। 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्'। 'पुरा जत्रुभ्य आतृदः' ॥

जब भाव का बोध करानेवाला कोई भी अर्थ हो तो तुमुन् के अर्थ में इन धातुओं से तोसुन् प्रत्यय होता है—स्था, इण्, कृञ्, वद्, चर्, हु, तम्, जन्। सम्+√स्था+तोसुन्=संस्थातोः। 'समाप्ति तक के लिए बैठते हैं'। यहाँ भावलक्षण सीमा का अर्थ रखता है। उत्+√इ—उदेतोः (आर्ध० गुण)। अप+√कृ—अपकर्तोः। प्र+√वद् (इट्)—प्रवदितोः। प्र+√चर् (इट्)—प्रचरितोः। √हु—होतोः। आ √तम् (इट्)—आतमितोः (थक जाने तक) वेद में प्रयोग है—कामनाओं के उत्पन्न होने तक हम उत्पन्न होते रहते हैं ? वि+√जन् (इट्)—आ विजनितोः (=आप्रसवात्)।

इसी भावलक्षण (कार्य की पूर्ति) के अर्थ में √सृप् तथा √तृद से कसुन् प्रत्यय होता है। विसृपः। आतृदः। कित् के कारण गुण निषेध। हे रूपयुक्त ! पहले क्रूर व्यक्ति के हटने तक (विसृपः)।' आतृदः=हिंसा होने तक। 'गले की अस्थिओं के टूटने तक'।

[टिप्पणी—प्रो० मैकडोनल तुमुन् अर्थ वाले प्रत्ययों को (Infinitive) मान कर कारकों के अनुसार उनके भेद मानते हैं। जैसे 'गन्तु' एक मूल लिया। द्वितीया में 'गन्तुम्' (तुमुन्), चतुर्थी में 'गन्तवे' (तवे), षष्ठी-पंचमी में 'गन्तोः' (तोसुन्)। यह व्याख्या अत्यन्त वैज्ञानिक है। विशेष विवरण के लिए देखें "Vedic Grammar for Students" अनुच्छेद १६७.]

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

चतुर्थ-अध्याय

[स्त्रीप्रत्यय—ङीप्, ङीष्, ऊङ्—तद्धित—ठञ्, मयट्, ढ, यत्, ड्यप्, अण्, ड्यट्, ड्य, यन्, घन्, घ, छ, मतुप् और इसका लोप, ञ, ख, यल्, इ... य, तातिल्]

(५९) रात्रेश्चाजसौ (४।१।३१)। रात्रिशब्दान्ङीप् स्यात् अजस्विषये छन्दसि। 'रात्री व्यख्यदायती (ऋ० १०।१२७।१)। लोके तु 'कृदिकारात्…' (गणसूत्र) इति ङीषि अन्तोदात्तः।

वेद में जस् (प्रथमा बहु०) को छोड़कर अन्य स्थानों में 'रात्रि' शब्द के बाद ङीप् प्रत्यय होता है। 'अजसौ' अजसि की सप्तमी में है, अजसि में ! उच्चारण के लिए है। नहीं तो अजसौ के स्थान पर अजसि कहने से ही काम चल जाता। 'आते-ही-आते रात फैल गई।' यह ङीप् लोक में संज्ञाओं के लिए तथा वेद में सबों के लिए है, इस प्रकार लोक में ङीप् ग्रहण करने वाले रात्रि (रात्री) का भी प्रयोग होता है; यदि किसी का नाम हो। अन्यथा एक गणसूत्र है—'कृदिकारादक्तिनः' अर्थात् क्तिन् से भिन्न किसी भी इकारान्त कृदन्त से ङीष् प्रत्यय होता है। इस नियम के अनुसार रात्रि में ङीष् प्रत्यय लगाकर भी 'रात्री' शब्द बनाते हैं। यह शब्द लोक में भी सर्वत्र तथा वेद में जस् होने पर भी प्रयुक्त हो सकता है। इसीसे लोक में 'तिमिरंपटैरवगुण्ठिता रात्र्यः'[1] का प्रयोग देखा जाता है; जहाँ रात्रि में ङीष् तथा जस् लगा है। जब सब जगह के लिए 'रात्री' शब्द बन ही गया तब इतना कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी ? ङीप् ङीष् में भेद क्या पड़ा ? 'राशदिभ्यां त्रिप्' (उणादि० ५०७) से रा+त्रिप् करने से 'रात्रि' बनता है जो आद्युदात्त है। ङीप् होने पर भी आद्युदात्त ही रहेगा। इसका कारण यह है कि 'रात्रि' में दो वर्ण हैं—रा और त्रि। इनमें दूसरा वर्ण तो हर हालत में प्रत्यय का है, वह भी पित्-प्रत्यय का। पित् प्रत्यय तो अनुदात्त होते हैं, इसलिए

---

(१) काशिका में (४।१।३१) उद्धृत।

(या त्री भी) अनुदात्त ही रहेगा। शब्द में तब धातु का वर्ण 'रा' अवशिष्ट है वही उदात्त हो जायगा। ('अनुदात्तौ सुप्पितौ' ३।१।४)।

यदि रात्रि+ङीष् किया जाय तो 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) के अनुसार 'त्री' उदात्त होगा अर्थात् रात्री शब्द अन्तोदात्त हो जायगा। इस तरह ङीप् और ङीष् में इतना बड़ा स्वर का अन्तर है।

(६०) **नित्यं छन्दसि (४।१।४६)**। बह्वादिभ्यश्छन्दसि विषये नित्यं ङीष्। 'ब॒ह्वीषु॒ हि त्वा।' नित्यग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

(६१) **भुवश्च (४।१।४७)**। ङीष् स्याच्छन्दसि। विभ्वी। प्रभ्वी। 'विप्रसंभ्य···' (३।२।१८०) इति डुप्रत्ययान्तं सूत्रेऽनुक्रियते। 'उत' इत्यनुवृत्तेः। उवङादेशस्तु सौत्रः ॥

(क) **'मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च' वा०**—ङीषो लित्त्वम्, आनुक् च आगमः। लित्स्वरः। 'रथीरभून्मुद्गलानी।'

(६२) **दीर्घजिह्वी च च्छन्दसि (४।१।५९)**। संयोगोपधत्वाद-प्राप्तो ङीष् विधीयते। 'आसुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां यज्ञवाट् ॥'

वेद में बहु आदि शब्दों से नित्य रूप से ङीष् प्रत्यय होता है जैसे—बह्वी। इस सूत्र में नित्य किसलिए दिया गया जब कि विधान ही किया गया है ? विधान तो नित्य स्वयं ही होता है। नित्य बाद के सूत्रों के लिए है।

कृत्प्रकरण का एक सूत्र है 'विप्रसंभ्यो डु असंज्ञायाम्' अर्थात् वि, प्र और सम् के बाद भू धातु से डु प्रत्यय होता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी डु प्रत्यय से युक्त भू का ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह है कि ऊपर के सूत्र 'वोतो गुणवचनात्' ४।१।४४ से 'उतः' (उकार के बाद) की अनुवृत्ति कर लेते हैं। भू धातु में ह्रस्व उकार तभी सम्भव है जब डु प्रत्यय लगे। 'भू' से पञ्चमी में तो 'भोः' ('साधोः' के समान) होता, फिर 'भुवः' क्यों ? यह उवङ् आदेश सूत्र के लिए है, क्षम्य है। विभु+ङीष्—विभ्वी। प्रभ्वी।

(क) 'इन्द्रवरुण०' (४।१।४९) वाले लम्बे सूत्र में यह वार्तिक है। मुद्गल शब्द से भी आनुक् का आगम होकर ङीष् प्रत्यय होता है। यह आगम लित् (अतिदेश) इसलिए माना जाता है कि 'लिति' सूत्र से अनुक् के आकार को उदात्त माना जाय। 'मुद्गल ऋषि की स्त्री रथी बन गई'।

'दीर्घजिह्वी' शब्द की सिद्धि वेद में निपातन से होती है। दीर्घजिह्वा ङीष् करने पर यह रूप होता है जो लौकिक भाषा में 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' (४।१।५४) से निषिद्ध है। स्वाङ्गवाची शब्द यदि उपसर्जन (अमुख्य) हो तो ङीष् होता है जैसे—चन्द्रमुखी। किन्तु स्वाङ्गवाची शब्द की उपधा में संयुक्त वर्ण रहने पर ङीष् नहीं होता। प्रस्तुत उदाहरण में ह् और व् का संयोग है इसलिए ङीष् नहीं होना चाहिए। यह सूत्र इस नियम का उल्लंघन करता है। इसीलिए 'दीर्घजिह्वी' शब्द का निपातन किया गया है। दीर्घा जिह्वा यस्याः सा—दीर्घजिह्वी। संस्कृत में—दीर्घजिह्वा 'देवों के यज्ञ का वहन करने वाली बड़ी जिह्वा वाली आसुरी है।'

(६३) **कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि** (४।१।७१) ऊङ् स्यात्। कद्रूः वै कमण्डलूः। (वा०) **'गुग्गुलुमधुजतुपतयालूनामिति वक्तव्यम्'**। गुग्गुलूः। मधूः। जतूः। पतयालूः॥

कद्रु और कमण्डलु के बाद स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है। जैसे—कद्रूः। कमण्डलूः। वार्तिक के अनुसार गुग्गुलु (एक होम-द्रव्य), मधु, जतु (लाह) और पतयालु (पतनशील)—शब्दों से भी ऊङ् होता है।

(केवल वेद में होनेवाले तद्धित-प्रत्यय)

(क) **अव्ययात्त्यप्** (४।२।१०४)। (वा०) **'आविष्ठ्यस्योपसंख्यानं छन्दसि।'** 'आविष्ट्यो वर्धते'।

(६४) **छन्दसि ठञ्** (४।३।१९)—वर्षाभ्यष्ठकोऽपवादः। स्वरे भेदः। वार्षिकम्।

(६५) **वसन्ताच्च** (४।३।२०)। ठञ् स्याच्छन्दसि। वासन्तिकम्।

(६६) **हेमन्ताच्च** (४।३।२१)। छन्दसि ठञ्। हैमन्तिकम्। योगविभागः उत्तरार्थः।

(क) **शौनकादिभ्यश्छन्दसि** (४।३।१०६)। णिनिः प्रोक्तेऽर्थे छाणोरपवादः। शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः। वाजसनेयिनः। छन्दसि किम्? शौनकीया शिक्षा।

अव्यय शब्दों से जो त्यप् प्रत्यय होता है, उसमें 'आविस्' शब्द को भी

गिनें। आविर्भूतम्—आविष्टचम्। 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८।३।१०१) से मूर्धन्य ष, 'ष्टुना ष्टुः' से त का ट—आविस्+त्यप्=आविष्ट्यः।

वर्षा शब्द से लोक में ठक् प्रत्यय होता है (वर्षाभ्यष्ठक् ४।३।१८), किन्तु वेद में ठञ् होता है। दोनों प्रत्ययों में केवल स्वर का भेद है। ञित् प्रत्यय होने पर इससे बने शब्द का प्रथम वर्ण उदात्त होता है। वर्षा+ठञ्= (ठस्येकः ७।३।५० से ठ का इक) वर्षा+इक= ('तद्धितेष्वचामादेः' से आदि स्वर की वृद्धि, 'यस्येति च' ६।४।१४८ से आकार-लोप) वार्ष्+इक= वार्षिकम्। वसन्त और हेमन्त शब्दों से ठञ् होकर वासन्तिकम् और हैमन्तिकम् बनते हैं। हेमन्त को इसलिए पृथक् किया गया है कि बाद के सूत्रों में केवल उसी की अनुवृत्ति हो।

'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१ उसके द्वारा उपदिष्ट)–इस अर्थ में शौनकादि शब्दों से णिनि प्रत्यय होता है यदि छन्दस् (वेद) अभिधेय हो। ऊपर के सूत्रों से इनमें छ और अण् प्रत्यय होते हैं उन्हीं का यह अपवाद है। शौनक-द्वारा उपदिष्ट वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले—शौनक+णिन्=शौनकिन्—शौनकिनः। वाजसनेय—वाजसनेयिन्। नागेश कहते हैं कि यह सूत्र यहाँ पर लेखक के प्रमाद से आ गया है। 'छन्दसि' का अर्थ यहाँ है—'छन्द-अर्थ होने पर'=शौनकेन प्रोक्तं छन्दः (वेदम्) अधीयते। छन्द अभिधान न होने पर (वेदाङ्ग या लौकिक साहित्य का अर्थ होने पर) छ ही हो, जैसे शौनकेन प्रोक्ता शिक्षा—शौनकीया शिक्षा। 'छन्दसि' का अर्थ 'वैदिक-भाषा में' नहीं।

(६७) द्व्यचश्छन्दसि (४।३।१५०)। विकारे मयट् स्यात्। शरमयं बर्हिः'। 'यस्य पर्णमयी जुहूः'।

(६८) नोत्वद्वर्ध्रबिल्वात् (४।३।१५१)। उत्वान् उकारवान्। मौञ्जं शिक्यम्'। वर्ध्रं चर्म, तस्य विकारो वार्ध्री रज्जुः। बैल्वो यूपः॥

'तस्य विकारः' (४।३।१३४ उससे बना हुआ) के अर्थ में दो स्वर वाले शब्दों से वेद में मयट् प्रत्यय होता है जैसे—शर+मयट्=शरमयम्। 'सरकंडों की अग्नि'। 'जिसका बर्तन पत्तों का बना हुआ'। किन्तु उकार से युक्त शब्द, वर्ध्र (चमड़ा) तथा बिल्व से मयट् नहीं होता, भले ही ये दो

स्वरवाले क्यों न हों। उत्वत् का अर्थ 'उकार से युक्त' है अर्थात् ऐसा श
जिसमें उ लगा हो, जैसे—मुञ्ज। इससे अण् लगा, मयट् नहीं। णित्
कारण वृद्धि—मौञ्जम्। 'मूँज की रस्सी का सिकहर'। वर्ध्र=चमड़ा,
बनी हुई वार्ध्री रस्सी। बिल्व+अण्=बैल्वः। बेल की लकड़ी का
उत्सर्ग (सामान्य) सूत्र में अण् का विधान है, इसलिए अण् ही हु
अपवाद वाला मयट् नहीं।

(६९) **'सभाया यः'—ढश्छन्दसि** (४।४।१०६)। सभे
युवा ॥

(७०) **भवे छन्दसि** (४।४।११०)। सप्तम्यन्ताद्भवार्थे
'मेघ्याय च विद्युत्याय च' (यजु० १६।३८)। यथायथं शैषिका
मणादीनां घादीनां चापवादोऽयं यत्। पक्षे तेऽपि भवन्ति। सर्वविधि
छन्दसि वैकल्पिकत्वात्। तद्यथा—मुञ्जवान् नाम पर्वतः, तत्र
मौञ्जवतः। 'सोमस्येव मौञ्जवतस्य भक्षः' आ चतुर्थसमाप्तेश्छन्द
धिकारः ॥

पूर्व सूत्र के अनुसार 'सभा' से य-प्रत्यय करके सभ्यः (लोक में)
हैं किन्तु वेद में ढ-प्रत्यय होता है जैसे सभा+ढ (एय, 'आयनेयीनीयि
फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' से)=सभेयः (=सभायां साधुः)।

'तत्र भवः' (उसमें उत्पन्न हुआ) इस अर्थ में सप्तम्यन्त शब्द से
प्रत्यय होता है। मेघे भवः मेघ्यः (चतुर्थी एकव० मेघ्याय)। 'मेघ
विद्युत में उत्पन्न (रुद्र) के लिए'। ये शब्द 'यतोऽनावः' सूत्र (६।१।२१
के अनुसार आद्युदात्त होने चाहियें, किन्तु अन्त में स्वरित पढ़ा गया
हरदत्त (पदमञ्जरीकार) का कहना है। यह यत् प्रत्यय शैषिक अर्थ में होने
अण् आदि तथा घ आदि प्रत्ययों का अपवाद है। चूँकि छन्द में सभी वि
वैकल्पिक हैं, इसलिए एक पक्ष में वे प्रत्यय भी होते हैं जैसे—मुञ्जवान्
का कोई पहाड़ है वहाँ होनेवाले को हम 'मौञ्जवत' (मुञ्जवत्+अण्,
कहेंगे। यहाँ यत् होना चाहिए था।

इस सूत्र से आरम्भ करके चतुर्थाऽध्याय के अन्त (१४४वें सूत्र)
वैदिक सूत्र ही हैं। इसलिए प्रत्येक का उद्धरण देना होगा।

(७१) **पाथोनदीभ्यां ड्यण्** (४।४।१११)। 'तमु त्वा पाथ्यो वृषा' (ऋ० ६।१६।१५)। 'चनो दधीत नाद्यो गिरो मे' (ऋ० २। ३५।१)। पाथसि भवः—पाथ्यः। नद्यां भवो नाद्यः॥

(७२) **वेशन्तहिमवद्भ्यामण्** (४।४।११२)। भवे। 'वैशन्तीभ्यः स्वाहा'। 'हैमवतीभ्यः स्वाहा'॥

(७३) **स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ** (४।४।११३)। पक्षे यत्। ड्यड्ड्ययोस्तु स्वरे भेदः। स्रोतसि भवः स्रोत्यः। स्रोतस्यः॥

पाथस् (जल, या काशिका के अनुसार अन्तरिक्ष) तथा नदी से भव (उत्पन्न) अर्थ में ड्यण्-प्रत्यय होता है। पाथस् में उत्पन्न—पाथ्यः। नदी—नाद्यः। डित् के कारण शब्दों के टि-भाग का लोप ('टेः')। (णित् के कारण 'नदी' के आदि स्वर की वृद्धि)।

वेशन्त (छोटा तालाब) तथा हिमवत् से 'उत्पन्न' (तत्र भवः) के ही अर्थ में अण् होता है। वेशन्त+अण्=वैशन्त+ङीप् (टिड्ढाणञ्०)। वैशन्ती। हिमवत्+अण्+ङीप्=हैमवती।

स्रोतस् शब्द से विकल्प से ड्यत् और ड्य प्रत्यय होते हैं। एक पक्ष में यत् भी होता है। ड्यत् और ड्य में केवल स्वर (Accent) का भेद होता है नहीं तो दोनों में समान-रूप से टि का लोप होता है। स्रोतस्+ड्य या ड्यत्=(टि 'अस्' का लोप) स्रोत्+य=स्रोत्यः। यत् होने पर टिलोप नहीं हुआ—स्रोतस्यः। उपर्युक्त सभी प्रत्यय 'तत्र भवः' के अर्थ में सप्तम्यन्त से होते हैं।

(७४) **सगर्भसयूथसनुताद्यन्** (४।४।११४)। अनुभ्राता सगर्भ्यः। अनुसखा सयूथ्यः। 'यो नः सनुत्य उत वा जिघत्नुः' (ऋ० २।३०।९)। नुतिर्नुतम्। 'नपुंसके भावे क्तः' (३।३।११४)। सगर्भादयस्त्रयोऽपि कर्मधारयाः। 'समानस्य छन्दसि···' (६।३।८४) इति सः। ततो भवार्थे यन्। यतोऽपवादः॥

(७५) **तुग्राद्घन्** (४।४।११५)। भवेऽर्थे। पक्षे यदपि। 'आ वः शर्म वृषभं तुग्र्यासु' (ऋ० १।३३।१५)। इति बह्वृचाः। तुग्रियास्विति शाखान्तरे। धनाकाशयज्ञवरिष्ठेषु तुग्रशब्द इति वृत्तिः॥

'भव' (उत्पन्न होना) के अर्थ में सगर्भ, सयूथ और सनुत शब्दों से यत् न होकर यन् होता है। स्वर में अन्तर पड़ेगा क्योंकि यन् (ञ्नित्यादि नित्यम्) होने पर आद्युदात्त और यत् होने पर अन्तोदात्त होगा (यतो नावः)। ये तीनों (सगर्भ आदि) शब्द कर्मधारय हैं 'समानः गर्भः=सगर्भः' इत्यादि। सर्वो में 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश हो गया है जिसके लिये सूत्र है 'समानस्य छन्दसि अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु'। छोटा भाई सगर्भ्य है, मित्र को सयूथ्य कहते हैं (समानश्चासौ यूथः=समूहः। √नु से भाववाची प्रत्यय हुआ है तथा नपुंसक लिङ्ग 'नुतम्' बना है जिसका अर्थ है नमस्कार, समानं च तत् नुतम्, सनुतम्+यत्—सनुत्य। 'जो हमारे प्रणामों से उत्पन्न है' (दीक्षित के अनुसार। सनुत्यः=चुराया हुआ (मोनियर विलियम्स)।

तुग्र शब्द से उसी अर्थ में ('भव') घन् प्रत्यय होता है। घ का इय् तथा न् की इत्संज्ञा होने से आद्युदात्त होता है। यह वैकल्पिक है इसलिये सामान्य-सूत्र से इसमें यत् भी होता है। बह्वृचो (ऋग्वेद पढ़नेवालों की एक शाखा) के अनुसार—तुग्र्यः (यत्)। दूसरी शाखाओं में 'तुग्रियः' पढ़ते हैं। काशिकावृत्ति के अनुसार तुग्र का अर्थ है—धन (या अन्न ?) आकाश, सबसे अच्छा।

(७६) अग्राद्यत् (४।४।११६)।

(७७) घच्छौ च (४।४।११७)। चाद्यत्। अग्रे भवः अग्र्यः, अग्रियः, अग्रीयः।

(७८) समुद्राभ्राद् घः (४।४।११८)। 'समुद्रियां अप्सरसो मनीषिणम्' 'नानदतो अभ्रियस्येव घोषाः ॥'

अग्र शब्द से ये तीन प्रत्यय होते हैं—यत्, घ च् (इय्) तथा छ (ईय्) उत्पन्न होने का अर्थ रहे तथा अग्र सप्तमी में रहे। आगे में उत्पन्न—अग्र्य (यत्), अग्रिय (घ च्), अग्रीय (छ)।

समुद्र और अभ्र शब्दों से इसी 'उत्पन्न' अर्थ में केवल घ-प्रत्यय होता है। समुद्र—समुद्रियः, 'समुद्र में उत्पन्न अप्सरायें विद्वान् ···को······' 'मेघ में उत्पन्न तथा बारबार नाद करनेवाले के घोष (आवाज) की तरह······।'

(७९) बर्हिषि दत्तम् (४।४।११९)। 'प्राग्घिताद्यत्' (४।४।७५) इत्येव। 'ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑' (ऋ० १०।१५।५)।

(८०) दूतस्य भागकर्मणी (४।४।१२०)। भागः अंशः। दूत्यम्।

(८१) रक्षोयातूनां हननी (४।४।१२१)। 'या ते॑ अग्ने रक्षस्या॑ त॒नूः' ॥

'बर्हिस् (अग्नि) में दिया गया'—इस अर्थ में बर्हिस् शब्द से (क्योंकि यही सब्द सप्तम्यन्त है) यत् प्रत्यय होता है। 'प्राग् हिताद् यत्' से सामान्य सूत्र के द्वारा यत् की ही प्रवृत्ति होती है। 'अग्नि में दी गई प्रिय विधियों में।'

दूत शब्द से (षष्ठी में) भाग (अंश, हिस्सा share) और काम का अर्थ होने पर यत् होता है। दूतस्य भागः कर्म वा=दूत्यम्। भाग अर्थ में 'तस्येदम्' से अण् होना चाहिये था। कर्म अर्थ में 'दूतवणिग्भ्यां च'—इस वार्तिक से य होता है वेद में दोनों से यत् होगा।

रक्षस् और यातु (जादूगर) शब्दों से यत् प्रत्यय होता है यदि अर्थ हो—उसको मारने वाली (हननी, संहारिणी)। 'हे अग्ने ! आपका जो शरीर राक्षसों का विनाशक है'। रक्षस्या=रक्षसां हननी। उसी प्रकार यातु+यत्=(गुण, अवादेश करके) यातव्या तनूः। बहुवचन का प्रयोग सूत्र में देवताओं की स्तुति करने के लिए है। यद्यपि 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' से एकशेष होकर 'रक्षसाम्' ही होना चाहिये क्योंकि रक्षस् और यातु दोनों समानार्थक हैं, तथापि इनका पृथक् उल्लेख स्पष्टता के लिये किया गया है।

(८२) रेवतीजगतीहविष्याभ्यः प्रशस्ये (४।४।१२२)। प्रशंसने यत्स्यात्। रेवत्यादीनां प्रशंसनं—रेवत्यम्। जगत्यम्, हविष्यम्।

(८३) असुरस्य स्वम् (४।४।१२३)। अ॒सु॒र्य॑ दे॒वेभि॑र्धायि वि॒श्वम्' (मैत्रायणी सं० १।८।३)।

(८४) मायायामण् (४।४।१२४)। आसुरी माया।

रेवती (धन से युक्त), जगती तथा हविष्या (घी में देने योग्य) शब्दों से प्रशंसा के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। रेवती की प्रशंसा—रेवत्यम्। 'यस्येति च' सूत्र से अन्तिम स्वरों का लोप होता है। जगत्यम्, हविष्यम्।

'रयि' से मतुप् होने पर 'छन्दसीरः' से म् का व्, 'रयेर्मतौ बहुलम्' से स
सारण र इ वत्—रेवत् । 'उगितश्च' से ङीष् । जगत् से, वर्तमाने के का
शतृ के समान समझकर, उगितश्च' से ङीष् । तस्मै हितम्' से यत् ह
हविषे हिता—हविष्या ('उगवादिभ्यो यत्')+यत्=(हलो यमां य
लोपः' से एक य् का लोप) ।

असुर शब्द (षष्ठी) से उसके धन के अर्थ में यत् होता है । 'असुरों
सारा धन देवताओं के द्वारा धारण किया गया' । असुर+यत्=असुर्यम् ।

असुरों की माया के अर्थ में अण् होता है । वृद्धि होकर 'आसुर',
'ठिड्ढाणञ्० से ङीप्—आसुरी । माया=असत् अर्थ के प्रकाशन की शक्ति ।

**(८५) तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक्च मतोः (४।
१२५) । वर्चस्वानुपधानो मन्त्र आसामिष्टकानां वर्चस्याः । ऋतव्या**

वैदिक-यज्ञों में ईंटों का उपधान (यज्ञशाला में बिछाना) होता है
प्रत्येक कर्म के समान इसमें भी मन्त्र-पाठ की विधि है । किसी न किसी म
से उन इष्टकाओं (ईंटों) का उपधान होता ही है । जिस मन्त्र से ईंटों
उपधान हो उस मन्त्र में आने वाले शब्द के साथ मतुप् प्रत्यय[1] लगा
उसे मन्त्र का विशेषण बनाते हैं (जैसे—'वर्चस्' शब्द से युक्त मन्त्र
'वर्चस्वान् मन्त्र' कहते हैं) ।

अब सूत्रार्थ हुआ—किसी शब्द से युक्त उपधान मन्त्र रहने पर,
इष्टकाओं का बोध होने पर, यत् प्रत्यय होता है तथा उस पहले मतुप् प्र
का लोप हो जाता है । किसी मन्त्र में इष्टकोपधान होते समय वर्चस् या इ
पर्याय का प्रयोग होता है । तब इस मन्त्र को तो वर्चस्वान् कहेंगे । वर्चस्
मन्त्र जिन ईंटों का उपधान-मन्त्र है उन ईंटों को—वर्चस्वान्+यत्=(
का लोप) वर्चस्+यत्='वर्चस्याः' कहेंगे । वर्चस्या वे ईंटें हैं जिनके
धान के समय मन्त्र में वर्चस् शब्द का पाठ करते हैं । इस मन्त्र में वर्चस्
अर्थ आ जाता है—'भूतं च स्थ भव्यं च स्थ देवस्य वः सवितुः प्रसवे
'तद्वान्' इसलिए कहा है कि केवल शब्दविशेष से ही हो, मन्त्र-समुदाय
नहीं, अन्यथा पूरे मन्त्र से ही यत् होता । 'उपधान' इसलिये कहा है

(१) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४) ।

'अभिमन्त्रण' आदि दूसरे शब्दों से ऐसा नहीं हो। 'मन्त्र' नहीं कहा जाता तो 'अङ्गुलिमानुपधानो हस्त आसाम्' से भी यत् प्रत्यय हो जाता। इष्टकाओं का ही अर्थ रहना चाहिये—'वर्चस्वानुपधान आसां शर्कराणाम्' से नहीं होगा। (विशेष के लिए पदमञ्जरी देखें)।

(८६) **अश्विमानण् (४।४।१२६)।** आश्विनीरुपदधाति।

(८७) **वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप् (४।४।१२७)।** तद्वानासामिति सूत्रं सर्वमनुवर्तते। मतोरिति पदमावर्त्यं पञ्चम्यन्तं बोध्यम्। मतुबन्तो यो मूर्धशब्दः ततो मतुप् स्यात् प्रथमस्य मतोर्लुक्च, वयःशब्दवन्मन्त्रोपधेयास्विष्टकासु। यस्मिन्मन्त्रे मूर्धवयःशब्दौ स्तः तेनोपधेयासु। मूर्धन्वतीरुपदधातीति प्रयोगः।

पूर्वसूत्र में जैसी परिस्थिति है, उसमें यदि 'अश्विमान्' (ऐसा मन्त्र जिसमें 'अश्विन्' का अर्थ हो, या यह शब्द स्वयं ही हो) शब्द बन जाय तो मतुप् का लोप होकर अण् होता है यत् नहीं। अश्विन्+मतुप्=अश्विमान् ('नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नलोप, 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' ७।१।७० से नुमागम, 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से उपधादीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यः' से सुलोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' से तलोप—अश्विमान्)। अश्विमान्+अण्। पूर्वसूत्र से मतुप् का लोप=अश्विन्+अण्। 'तद्धितेष्वचामादेः' से वृद्धि-आश्विन्+अ=आश्विन। 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप्=आश्विनीः (द्विती० बहु०) उपदधाति=ऐसी इष्टकाओं का उपधान करता है जिनके उपधान में 'अश्विन्' से संयुक्त मन्त्र पढ़े जाते हैं।

जिन इष्टकाओं का उपधान 'वयस्' शब्द से संयुक्त मन्त्र द्वारा किया जाय उन इष्टकाओं को ८५ वें सूत्र के अनुसार 'वयस्याः' कहेंगे। जो इष्टकायें वयस्या (=वयःशब्द से युक्त मन्त्रवाली) हो, उनका अर्थ रहने पर, मूर्धन् शब्द से मतुप् का लोप होकर दूसरा मतुप् लगेगा। यह कैसे सम्भव है कि 'वयस्' शब्द से युक्त मन्त्र में 'मूर्धन्' रहे? दोनों शब्द एक ही मन्त्र में रहेंगे तभी यह सम्भव है, जैसे इस मन्त्र में—'मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः' (वाज० सं० १४।९)। वयस्या का अर्थ हो, मूर्धन् शब्द भी हो तो उस मन्त्र को वयस्वान्, मूर्धन्वान् दोनों ही कहेंगे। वयस्वान् तो मतुप् का लोप करके यत्

ले रहा है, मूर्धन्वान् मतुप् (दूसरे) पर ही प्रसन्न है। इसलिए मूर्धन्वत्+
ङीप् ('उगितश्च' से)=मूर्धन्वती। प्रयोग—मूर्धन्वतीरुपदधाति।

दीक्षितजी कहते हैं—'तद्वान् (सू० ८५) पूरा सूत्र इसमें आ गया
किन्तु उस सूत्र का 'मतोः' शब्द यहाँ पञ्चम्यन्त मानिए और उसे 'मूर्ध
का विशेषण बना दें (मतुबन्तात् 'मूर्धन्' शब्दात्)। पहले मतुप् का लो
करके दूसरे का विधान करें। 'वयस्' शब्द से युक्त मन्त्र द्वारा उपधेय (उपधा
करने योग्य) इष्टकाओं के अर्थ में=जिस मन्त्र में मूर्धन्, वयस् दोनों हों उ
द्वारा उपधेय इष्टकाओं के अर्थ में। उदाहरण है—मूर्धन्वतीः उपदधाति
इस प्रकार ऐसे अर्थ में सामान्यतः यत्, अश्विमान् से अण् और मूर्धन्वान्
मतुप् का विधान हुआ।

(८८) मत्वर्थे मासतन्वोः (४।४।१२८)। नभोऽभ्रम्। त
स्मिन्नस्तीति नभस्यो मासः। ओजस्या तनूः॥

(८९) मधोर्ञ च (४।४।१२९)। माधवः। मधव्यः।

(९०) ओजसोऽहनि यत्खौ (४।४।१३०)। ओजस्यम
ओजसीनं वा॥

मतुप् प्रत्यय के अर्थ में किसी शब्द से यत् प्रत्यय होता है यदि ब
हुआ शब्द मास या शरीर अर्थ वाला हो। जैसे—नभस्=मेघ, वह (मेघ
जिस महीने में रहे वह—नभस्+यत्=नभस्यः मासः (श्रावण)। 'ओज
जिसमें हो वह शरीर 'ओजस्य'। 'तनूः' चूंकि स्त्रीलिङ्ग है इसलिए 'ओजस्
तनूः'। मतुप् प्रत्यय का प्रधान अर्थ है—वह जिसमें रहे, जैसे—शक्ति जि
रहे, शक्तिमान्। (तदस्मिन् अस्ति, तदस्य अस्ति वा)।

मतुप् के अर्थ में मधु शब्द से ञ या यत् प्रत्यय हो यदि महीना अर्थ है
मधु+ञ (आद्यक्षर वृद्धि, गुण, अवादेश) = माधवः, मधु+यत् (गु
अवादेश)=मधव्यः। दोनों का अर्थ है वसन्त के महीने।

ओजस् से, दिन का अर्थ होने पर, यत् और ख दोनों ही मतुप् के
में होते हैं। ओजस्+यत्=ओजस्यम् अहः (बल देनेवाला दिन)। ख हो
पर उसका ईनादेश—ओजसीनम्॥

(९१) वेशोयशआदेर्भगाद्यल् (४।४।१३१)। यथासंख्यं नेष्यते । वेशो बलं, तदेव भगः इति कर्मधारयः । वेशोभग्यः । वेशोभगीनः । यशोभग्यः । यशोभगीन ।

(क) ख च (४।४।१३२)। योगविभाग उत्तरार्थः, क्रमनिरासार्थश्च ॥

वेशस् और यशस् शब्दों के पूर्व में होने पर भग शब्द से यल् तथा ख प्रत्यय भी होता है। वेशस्=बल, वही भग (कीर्ति) है—इस प्रकार कर्मधारय समास होता है। यत् और यल् में केवल स्वर का अन्तर है। वेशस्+भग+यल्=वेशोभग्यः । ख होने पर—वेशोभगीनः । दोनों सूत्रों को अलग इसलिए किया है कि (१) बाद के सूत्र में केवल ख की अनुवृत्ति हो तथा (२) वेशस् और यशस् आदि में रहने पर यल् ख क्रमशः (respectively) नहीं हों। इसलिए दीक्षित कहते हैं कि पाणिनि इसमें यथासंख्य (क्रम) नहीं चाहते । वेशस् या यशस् किसी के पूर्व में रहने पर यल् और ख दोनों हो सकते हैं।

सामान्यतः प्रकृति और प्रत्यय की संख्या समान होने पर 'यथासंख्य' परिभाषा (यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०) प्रवृत्त होती है जैसे—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३।१।१३४)। इसमें तीन प्रकार के धातुओं से तीन प्रत्यय विहित हैं अतः नन्द्यादि से ल्यु, ग्रहादि से णिनि और पचादि से अच् होते हैं। उपर्युक्त सूत्र में भी यदि 'यल्खौ' एक साथ पढ़ते तो यही स्थिति होती ।

(९२) पूर्वैः कृतमिनयौ च (४।४।१३३)। 'गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः ।' 'ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासः' (ऋ० १।३५।१)।

(९३) अद्भिः संस्कृतम् (४।४।१३४)। 'यस्येदमप्यं हविः'।

(९४) सहस्रेण संमितौ घः (४।४।१३५)। 'सहस्रियासो अपां नोर्मयः'। सहस्रेण तुल्या इत्यर्थः ॥

'पहले के लोगों द्वारा बनाये गये' इस अर्थ में पूर्वशब्द से इन और य प्रत्यय भी होते हैं, पहले के अनुसार ख भी हो। इन होने से—पूर्विणः। ये होने से—पूर्व्यः । ख होने पर—पूर्वीणः । 'पूर्वजों के द्वारा बनाये गये

गम्भीर रास्तों से'। 'हे सवितृ—देव, आपके जो मार्ग पूर्वजों के द्वारा रक्षित हैं…' (ऋ० १।३५।११)। पूर्व्यं का 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) से असुक् का आगम होकर प्र० ब० में 'पूर्व्यासः' हुआ है। गम्भीरैः और पूर्विणैः के स्थान में गम्भीरेभिः तथा **पूर्विणेभिः** हो गये हैं क्योंकि वेद में अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन में ऐस् बहुल-रूप से होता है (पा० ७।१।१०)। भिस् ही बच रहने से 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) द्वारा अंग को एकारादेश हो गया है।

'जलों से शुद्ध (परिष्कृत) किया गया' इस अर्थ में 'अप्' शब्द से यत् होता है। अप्यं हविः=जल से शुद्ध किया हुआ हव्य।

'सहस्र के तुल्य (संमित)' इस अर्थ में तृतीयान्त सहस्र शब्द से घ (इय) प्रत्यय होता है। सहस्रिय=सहस्र के बराबर। 'जल की तरंगों के समान सहस्रों…'।

(९५) **मतौ च** (४।४।१३६)। सहस्रशब्दात् मत्वर्थे घः स्यात्। सहस्रमस्यास्तीति सहस्रियः।

(९६) **सोममर्हति यः** (४।४।१३७)। सोम्यो ब्राह्मणः। यज्ञार्ह इत्यर्थः।

(९७) **मये च** (४।४।१३८)। सोमशब्दाद् यः स्यान्मयडर्थे। सोम्यं मधु। सोममयमित्यर्थः।

(९८) **मधोः** (४।४।१३९) मधुशब्दान्मयडर्थे यत्स्यात्। मधव्यः। मधुमय इत्यर्थः।

मतुप् प्रत्यय के अर्थ में भी सहस्र शब्द से घ प्रत्यय होता है जैसे—इसके पास सहस्र है, सहस्रियः। लोक में 'तपसहस्राभ्यां विनीनी' (५।२।१०२) से केवल इनि प्रत्यय होता है—सहस्री।

'सोम पाने योग्य है'—इस अर्थ में सोम शब्द से य प्रत्यय होता है जैसे सोम्य ब्राह्मण अर्थात् जो यज्ञ के योग्य है। सोम शब्द से मयट् के अर्थ में भी य होता है। मयट् के चार अर्थ हैं—आगत (पञ्चमी से), विकार अवयव (दोनों षष्ठी से) तथा प्रकृत (प्रथमा से ही)। चारों अर्थों का निर्देश समर्थ

सोम्यं मधु=सोम से आगत, सोम का विकार या अवयव, सोम ही (सोम एव सोम्यः)। सोम्य=सोममय।

मधु शब्द से मयट् के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यत् और य में स्वर का भेद है। मधु+यत्=('ओर्गुणः ६।४।१४६ से गुण, अवादेश) मधव्य= मधुमय।

(९९) वसोः समूहे च (४।४।१४०)। चान्मयडर्थे यत्। वसव्यः। (वा०) **अक्षरसमूहे छन्दस उपसंख्यानम्।** छन्दःशब्दादक्षर-समूहे वर्तमानात्स्वार्थे यदित्यर्थः। 'आश्रावय' इति चतुरक्षरम्, 'अस्तु श्रौषट्' इति चतुरक्षरम्, 'यज' इति द्व्यक्षरम्, 'ये यजामहे' इति पञ्चाक्षरम्, द्व्यक्षरो वषट्कारः। एष वै सप्तदशाक्षरः छन्दस्यः॥

वसु (षष्ठी में) शब्द से समूह के अर्थ में भी यत् हो ऊपर के अनुसार मयट् के अर्थ में भी। वसु+यत्=वसव्यः=वसुओं का समूह या विकार आदि। वार्तिक—'छन्दस्' शब्द से अक्षर-समूह के अर्थ में स्वार्थिक (छन्द एव छन्दस्यः) यत् प्रत्यय होता है। आश्रावय इत्यादि शब्दों का समाहार होने पर १७ अक्षर हो जाते हैं। यह सप्तदशाक्षर (सतरह अक्षरों का) छन्दस्य=छन्द है। यहाँ यत् स्वार्थ में हुआ।

(१००) नक्षत्राद् घः (४।४।१४१)। स्वार्थे। 'नुक्षत्रियेभ्युः स्वाहा।'

(१०१) सर्वदेवात्तातिल् (४।४।१४२)। स्वार्थे। 'सुवि॒ता नः सुवतु सर्वतातिम्।' 'प्रदक्षिणिद्देवतातिमुराणः'॥

नक्षत्र शब्द से स्वार्थ में ही घ प्रत्यय होता है। नक्षत्रियेभ्यः=नक्षत्रेभ्यः। स्वार्थ-प्रत्यय लगाने से वैदिक छन्दों में अक्षरों की पूर्ति हो जाती है।

सर्व और देव शब्दों से स्वार्थ में तातिल् प्रत्यय होता है। सर्वतातिः= सर्वः। देवतातिः=देवः। 'सविता हमें सब कुछ दें'। 'यज्ञ की वृद्धि करने वाला अध्वर्यु यज्ञ के चारों ओर घूमता है'। ल् का अनुबन्ध स्वर के लिए है।

(१०२) शिवशमरिष्टस्य करे (४।४।१४३)। करोतीति करः। पचाद्यच्। शिवं करोति इति शिवतातिः। 'याभिः शन्ताती भवथो ददाशुषे' (ऋ० १।११२।२०)। 'अथो अरिष्टतातये'॥

(१०३) **भावे च (४।४।१४४)**। शिवादिभ्यो भावे तातिः स्याच्छन्दसि । शिवस्य भावः शिवतातिः । शन्तातिः । अरिष्टतातिः ।

शिव, शम् और अरिष्ट—इन तीन शब्दों से करनेवाले के अर्थ में तातिल् प्रत्यय होता है। √कृ+अच्=करः। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से अच् प्रत्यय होता है। शिव करनेवाला—शिवताति, शन्ताति=कल्याणकारी। अरिष्ट (हानि) करनेवाला—अरिष्टताति। 'शिवका... तुम दोनों यजमान के लिए कल्याणकारी बनते हो'। 'तुम्हारा अरिष्ट दूर भागे'

इन्हीं तीनों शब्दों से भाव (सिद्ध क्रिया) के अर्थ में तातिल् होता है। शिव का भाव—शिवतातिः=शिवत्वम्। शन्तातिः=शुभावहता। अरि... तातिः=मंगलपरता या अमंगलपरता।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

पञ्चम अध्याय

[तद्धित-प्रत्यय—अञ्, डिनि, वतुप्, यत्, छ, ख, घस्, वति, थट्, विनि, ई, वनिप्, दा, र्हिल्, था, तिल्, तातिल्, टच्, दन्त का दतृ, समासान्त कप् का निषेध ।]

(१०४) **सप्तनोऽञ् छन्दसि** (५।१।६१) । 'तदस्य परिमाणम्' (५।१।५७) इति, 'वर्गे' इति च । 'सप्त साप्तानि असृजत्' ।

(क) **शन्शतोर्डिनिश्छन्दसि तदस्य परिमाणनित्यर्थे वाच्यः** (५।१।५८ वा०) । पञ्चदशिनोऽर्धमासाः । त्रिंशिनो मासाः ।

(ख) **विंशतेश्चेति वाच्यम्** (५।१।५८ वा०) । विंशिनोऽङ्गिरसः ।

(ग) **युष्मदस्मदोः सादृश्ये वतुब् वाच्यः** (५।२।३९ वा०) । 'त्वावतः पुरूवसो' (ऋ० ८।४६।१) । न त्वावाँ अन्यः (ऋ० ७।३२। २३) । युज्ञं विप्रस्य मावतः (ऋ० १।१४२।२) ॥

वेद में सप्तन् शब्द के वाद अञ् प्रत्यय होता है यदि परिमाण का अर्थ हो और उसका सामान्य अर्थ वर्ग (समूह) का हो जाय । सप्तन्+अञ्= साप्त । 'नस्तद्धिते' से टि (अन्) का लोप, 'तद्धितेष्वचामादेः' से ञित् प्रत्यय होने के कारण प्रथम स्वरवर्ण की वृद्धि । साप्त=सात का समूह, सात ही जिसका परिमाण है, इस सूत्र में 'तदस्य परिमाणम्' (५।१।५७) से परिमाण की अनुवृत्ति तथा 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' (५।१।६०) से वर्ग की अनुवृत्ति होती है । वर्ग=प्राणियों या अप्राणियों का । 'साप्त' शब्द आर्ष प्रयोग से नपुंसक लिङ्ग हुआ है (नागेश) अन्यथा पुँल्लिङ्ग ही है । साप्त+ शस्='जश्शसोः शिः' से शि—आदेश, 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) से नुमागम, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से उपधादीर्घ—साप्तानि । 'सात सप्तवर्गों की सृष्टि की' ।

जिन संख्याशब्दों के अन्त में शन् (दशन् आदि) या शत् (त्रिंशत् आदि) लगा हुआ है उनसे परिमाण के अर्थ में डिनि प्रत्यय होता है । डिनि

में 'चुटू' से ड् की इत्संज्ञा होती है और अन्तिम इ को 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा। प्रत्यय के डित् होने के कारण टि का लोप ('टेः' ६।४।१४३ से) होता है। पञ्चदशन्+डिनि=पञ्चदशिन्, उसके बाद बहुवचन में जस्=पञ्चदशिनः। जिनका परिमाण पन्द्रह दिनों का है वे मास हैं। त्रिशत्+डिनि=त्रिंशिन्। तीस दिनों का परिमाण वाले महीने। 'विंशति' शब्द से भी डिनि प्रत्यय होता है, 'ति' का लोप 'ति विंशतेर्डिति' (६।४।१४२) से, अब विंश+इन्। 'यस्येति च' से अकार का लोप विंश्+इन्=विंशिन्। बीस गोत्र जिनका परिमाण है ऐसे अङ्गिरस लोग आङ्गिरस, अयास्य, गार्ग्य, गौतम इत्यादि बीस प्रवर के गोत्र जिनका परिमाण हैं।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों से सादृश्य के अर्थ में वतुप् होता है। वतुप् प्रत्यय परिमाण अर्थ में होता है जैसे एतत् परिमाणमस्य—एतावान्। युष्मद् अस्मद् के स्थान में क्रमशः त्व और म आदेश होता है ('प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' ७।२।९८)। 'आ-सर्वनाम्नः' (६।३।९१) से आकार। तुम्हारे समान (त्वमिव)=त्वावान्। मेरे समान (अहमिव)=मावान्। प्रातिपदिक —त्वावत्, मावत्। 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।७०) से नुम् आगम्—त्वावन्त्। 'संयोगान्तस्य लोपः' से तलोप। 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) से उपधादीर्घ—त्वावान्। हे बहुधनयुक्त! तुम्हारी (त्वावत्+शस्=त्वावतः)। त्वावान्+अन्यः='दीर्घादटि समानपादे' (८।३।९) रु तथा 'आतोऽटि नित्यम्' (८।३।३) से अनुनासिक=त्वावाँ अन्यः। तुम्हारी तरह दूसरा नहीं है। हमारी तरह ब्राह्मण के यज्ञ को। 'मावतः' षष्ठी में 'विप्रस्य' का विशेषण है।

(१०५) छन्दसि च (५।१।६७)। प्रातिपदिकमात्रात् 'तदर्हति' (५।१।६३) इत्यर्थे यत्। 'सा॒द॒न्यं॑ वि॒द॒थ्य॑म्' (ऋ० १।९१।२०)

इसके पूर्व में सूत्र है 'दण्डादिभ्यो यत्' (५।१।६६) अतः इसका है वेद में भी सभी प्रातिपदिकों से यत् प्रत्यय होता है यदि उस शब्द बोधित वस्तु को पाने की योग्यता का अर्थ हो। जैसे सदनमर्हति=सादन्यः सदन की योग्यता रखता है (सभ्य है)। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७

दीर्घ। विदथ (यज्ञ) पा सकता है—विदथ+यत्=विदथ्यम्। यत् प्रत्यय होने से स्वरित होता है जैसा कि 'न्य' और 'ध्य' में स्वतंत्र (Independent) स्वरित है जो उदात्त का स्थानी होता है। देखिये—'यतोऽनावः' ६।१।२१३)।

(१०६) वत्सरान्ताच्छन्दसि (५।१।९१)। निर्वृत्तादिष्वर्थेषु। इद्वत्सरीयः।

(१०७) संपरिपूर्वात्ख च (५।१।९२)। चाच्छः। संवत्सरीणः, संवत्सरीयः। परिवत्सरीणः, परिवत्सरीयः॥

जिन शब्दों के अन्त में वत्सर शब्द लगा हो उनसे निर्वृत्ति (पूर्णता—'तेन निर्वृत्तम्'—उससे पूरा किया गया) के अर्थ में छ प्रत्यय होता है। छ के स्थान में 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (७।१।२) से ईय् आदेश। इद्वत्सर+छ=इद्वत्सरीयः। यदि सम् या परि उपसर्ग पूर्व में हों तो ख और छ दोनों होते हैं। ख=ईन्, छ=ईय्। संवत्सर+ख=संवत्सरीणः। 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (८।४।२) से र के बाद ई होने पर भी णत्व। छ होने पर—संवत्सरीयः। परिवत्सरीणः, परिवत्सरीयः। इद्वत्सर=पाँच वर्ष। पाँच वर्षों में जिसे पूरा किया वह—इद्वत्सरीय। वही अर्थ इदावत्सर और परिवत्सर का भी है। नागेश कहते हैं—इद्वत्सरेदावत्सरपरिवत्सराः पञ्चवर्षे युगचतुर्णां वर्षाणां संज्ञाः।

(१०८) छन्दसि घस् (५।१।१०६)। ऋतुशब्दात्तदस्य प्राप्तमित्यर्थे। 'भाग ऋत्वियः'॥

(१०९) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (५।१।११८)। धात्वर्थविशिष्टे साधने वर्तमानात्स्वार्थे वतिः स्यात्। यदुद्वतो निवतः (ऋ० १०।१४२।४) उद्गतान्निगतान् इत्यर्थः॥

इसके पूर्व में दो सूत्र हैं—समयः तदस्य प्राप्तम् (१०४), ऋतोरण् (१०५)। ऋतु शब्द से 'इसके लिए समय (ऋतु) आ गया है' इस अर्थ में घस् प्रत्यय होता है। ऋतुः अस्य प्राप्तः=ऋतु+घस् (इय्)। 'सिति च' से ऋतु की पदसंज्ञा, भ नहीं हुआ, अतः 'ओर्गुणः' से गुण नहीं हुआ, तब ऋतु+इय ('इको यणचि') से ऋत्वियः।

उपसर्ग धातुओं के पूर्व में लगा करते हैं। यदि ये धातु के अर्थ
बतलाने वाले साधन के रूप में हों तो इनसे इनके अपने अर्थ में ही
प्रत्यय होता है उत् (=ऊपर)+वति=उद्वत्=ऊपर गया हुआ।
उत् उपसर्ग√गम् के पूर्ववर्ती साधन के रूप में है। उपसर्ग श्रूयमाण-क्रि
की विशेषता बतलाते हैं, जैसे—आगच्छति। यदि क्रिया गम्यमान हो
वैसे स्थान में उपसर्ग को क्रिया–विशिष्ट का साधन मानते हैं जैसे—निष्
शाम्बिः में निस् उपसर्ग√गम् का साधन बन जाता है=निर्गतः कौशाम्ब्याः
नि+वत्=निवत्। ऋग्वेद संहिता में आये हुए मन्त्र 'यदुद्वतो निवतो या
वप्सत्' (१०।१४२।४) का अर्थ है—हे अग्निदेव ! आप ऊपर उठे हुए
ऊँचे (उद्वतः=उद्गतान्) और नीचे (निवतः=निगतान्) वृक्षों
जलाते हुए जाते हैं। इस प्रकार द्वितीया बहुवचन के ये प्रयोग हैं। उपसर्ग
सीधे वति प्रत्यय हुआ है। व्याकरण-शास्त्र की मर्यादा के लिए इसमें धातु
निहित मानते हैं अन्यथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उद् और नि के अपने अर्थ
ही वति लगा। उत्=ऊँचा, नि=नीचा। किन्तु धातुरहित उपसर्ग की कल्पना
व्याकरण में हो ही नहीं सकती है अतः कहा गया है—धात्वर्थविशिष्टे साधने
वर्तमानादुपसर्गात् स्वार्थे वतिः। इसी तरह 'याति देवः प्रवता यात्युद्वता'
(ऋ० १।३५।३)=प्रवणवता, उद्गमनवता मार्गेण।

(११०) थट् च छन्दसि (५।२।५०)। नान्तादसंख्यादेः परस्य
डटः थट् स्यान्मट् च। पञ्चथम्, पञ्चमम्॥

(क) छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि (५।२।८९)
पर्यवस्थाता शत्रुः। अपुत्यं परिपुन्थिनम् (ऋ० १।४२।३) मा त्वा
परिपरिणो विदन् (यजु० ४।३४)।

संख्यावाचक शब्द से लोक-भाषा में डट् (तस्य पूरणे डट् ५।२।४८ जैसे
एकादशन् से एकादशः) और मट् (नान्तादसंख्यादेर्मट् ४९ जैसे पञ्चन्
पञ्चमः) प्रत्यय होते हैं यदि पूरण (Order जैसे पाँचवाँ, छठा आदि)
हो। वेद में मट् के साथ-साथ थट् प्रत्यय भी लगाया जाता है। जैसे पञ्चन्+
थट्=(नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७ से न का लोप) पञ्चथम्।
होने पर पञ्चमम्। किन्तु यह थट् या मट् तभी लगता है जब संख्या नकारान्त

हो (पञ्चन्, दशन् आदि) तथा उसके पूर्व में कोई संख्यावाचक शब्द न हो। इस प्रकार 'एकादशन्' से मट् नहीं होता (लोक में भी), क्योंकि दशन् नकारान्त होने पर भी इसके पूर्व में 'एक' शब्द (संख्यावाचक) लगा हुआ है। ऐसे संख्यादि शब्दों से सामान्य सूत्र के अनुसार डट् प्रत्यय ही होता है। जैसे एकादशानां पूरणः—एकादशः (ग्यारहवां)। इन प्रत्ययों में ट् इसलिये लगा है कि स्त्रीलिङ्ग ङीप् प्रत्यय लगे—पञ्चमी, एकादशी आदि।

इनि प्रत्यय के प्रकरण में वेद में निपातन से सिद्ध होने वाले दो शब्द हैं—परिपन्थ+इन्=परिपन्थिन्, परिपर+इन्=परिपरिन्, यदि पर्यव-स्थाता (शत्रु, विपक्ष) का अर्थ हो। इनमें परि-उपसर्ग से विरोध का अर्थ प्रतीत होता है। 'विरोधी सन्तान को', 'तुम्हें शत्रु लोग न जान सकें। इससे यह जान पड़ता है कि संस्कृत में बहुधा प्रयुक्त होने वाला 'परिपन्थिन्' शब्द वस्तुतः वैदिक है, लौकिक नहीं है।

(१११) बहुलं छन्दसि (५।२।१२२)। मत्वर्थे विनिः स्यात्।

(क) छन्दोविन्प्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घ-श्चेति वक्तव्यम् (वा०)। इति दीर्घः। 'महिष्ठमुभयाविनम्' (ऋ० (८।१।२)। 'शुनमंष्ट्राव्यचरत्' (ऋ० १०।१०२।८)।

(ख) छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ (५।२।१०९ वा०)। ई—'रथीरभूत्' (ऋ० ८।१०२।२)। 'सुमङ्गलीरियं वधूः' (१०।८५।३३)। 'मघवानमीमहे' (ऋ० १०।१६७।२)

मतुप् प्रत्यय के अर्थ में वेद में विनि प्रत्यय बहुल-रूप से होता है अर्थात् जो पूर्व सूत्र (१२१) में कहा है कि असन्त प्रातिपदिक से, माया, मेधा, स्रज्—इन शब्दों से विन् हो इनके अलावे दूसरे सब्दों से भी विन् होता है तथा इन शब्दों में भी विन् न होकर मतुप् होता है जैसे तेजस्विन् (अस् अन्त होने के कारण) और वर्चस्वान् (वर्चस्विन् के स्थान पर)। ये उदाहरण काशिका के हैं।

विन्-प्रत्यय के प्रसंग में अष्ट्रा (=आरी, पूषा का शस्त्र), मेखला, द्वय, उभय, रुजा और हृदय—इन शब्दों से वैदिक भाषा में विन् प्रत्यय होता है तथा ह्रस्व के स्थान में दीर्घ भी होता है। द्वय, उभय तथा हृदय—इन तीन

शब्दों में ही दीर्घ का प्रयोजन है, अन्य शब्द तो दीर्घान्त हैं ही। इसी से उ +विन् होने पर दीर्घ होकर उभयाविन् बनता है द्वितीया (ए० व०) उभयाविनम्। 'दोनों से युक्त जो सबसे बड़े हैं उन्हें'। अष्ट्रा का वास्त अर्थ है आरी जो पूषा का एक शस्त्र है[1] किन्तु कुछ लोग इसे दंष्ट्रा (दाँ का पर्याय मानते हैं। अष्ट्रावी=दाँत से युक्त (पूषा) कुत्ते पर चलते अन्य शब्दों के उदाहरण हैं—मेखलावी, द्वयावी, रुजावी, हृदयावी। प्र एकवचन में 'सौ च' (६।४।१३) सूत्र से उपधा दीर्घ होकर, 'नलोपः प्रा पदिकान्तस्य' से नकार का लोप। अष्ट्रावीन्>अष्ट्रावी। अश्+ष्ट्रन् अष्ट्रा=जिससे अशन (भोजन) किया जाय=दाँत।

मतुप् के अर्थ में वैदिक-भाषा में ई और वनिप् प्रत्यय होते हैं जैसे रथ ई=रथीः, सुमङ्गल + ई=सुमङ्गलीः (कल्याणमयी)। इन प्रातिपदिकों अन्तिम अ का लोप 'यस्येति च' से हुआ है क्योंकि भसंज्ञक हैं। मघ+व =मघवन्। द्वितीया एकवचन में मघवानम्, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' उपधादीर्घ। लोक में मतुप् प्रत्यय होता है—जिससे म के स्थान में व हो ('मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' ८।२।६) मघवत् बनता है जिस रूप मघवान्-मघवन्तौ होता है। वनिप् होने पर मघवन् से मघवा-मघवानौ मघवा=इन्द्रः। 'धनवान की याचना कहते हैं'।

(११२) तयोर्दार्हिलौ च च्छन्दसि (५।३।२०)। इदन्तदोर्यथ संख्यं स्तः। इ॒दा हि॑ व॒ उप॑स्तुतिम् (ऋ० ८।२७।११)। तर्हि॥

(११३) था हेतौ च च्छन्दसि (५।३।२६)। किमः था स्या हेतौ प्रकारे च। क॒था ग्राम॒॑ न पृ॑च्छसि'। 'क॒था दा॑शेम'॥

इदम् और तद् इन दोनों से क्रमशः दा और र्हिल् प्रत्यय काल के अर्थ होते हैं। इदम्+दा=('इदम् इश्' ५।३।३ से इदम् का इश्=इ आदेश इदा। 'इस समय तुम्हारी स्तुति।' तद्+र्हिल्=तर्हि।

प्रकार-वचन में थाल् प्रत्यय होता है किन्तु वेद में प्रकार (विधि) औ हेतु (कारण) दोनों अर्थों में किम् से था प्रत्यय होता है। किम्+था

(१) तुलनीय—या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी (ऋ० ६।५३।६)

कथा। 'किमः कः' से कादेश। कथा—किस प्रकार से ? किस हेतु से ? 'गाँव कैसे नहीं पूछते ?' 'क्यों दिया जाय ?'

(११४) **पश्च पश्चा च च्छन्दसि** (५।३।३३)। अवरस्य अस्तात्यर्थे निपातौ। 'पश्च हि सः'। 'नो ते पश्चा'॥

(क) **तुश्छन्दसि** (५।३।५९)। तृजन्तात्तृन्नन्ताच्च इष्ठन्नीयसुनौ स्तः। 'आसुतिं करिष्ठः'। 'दोहीयसी धेनुः'॥

वेद में अवर शब्द के स्थान में अस्ताति प्रत्यय ('दिक्शब्देभ्यः० ५।३।२७) के अर्थ में पश्च और पश्चा ये दो आदेश होते हैं। पश्च=पीछे। च के कारण पश्चात् भी हो सकता है। अवर+अस्ताति=पश्च, पश्चा।

तृच् और तृन् प्रत्ययान्त शब्दों से इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। कृ+तृच् (आर्धधातुक गुण); कर्तृ+इष्ठन्=तुरिष्ठेमेयःसु' ६।४।१५४ से तृ का लोप=कर्+इष्ठ=करिष्ठः=कर्तृषु अतिशयन। इसी प्रकार दोग्ध्योः गवोः अतिशयेन=दोहीयसी। इसकी सिद्धि में कुछ व्याकरणात्मक विशिष्टतायें हैं- दुह+तृच्=(लघूपध-गुण; 'दादेर्धातोर्घः' से घ तथा उसका जश्त्व=ग; 'झषस्तथोर्धोऽधः' से त् का ध्) दोग्धृ+ङीप्=दोग्ध्री। ईयसुन् प्रत्यय का विधान न केवल पुंल्लिङ्ग से बल्कि स्त्रीलिङ्ग से भी होता है क्योंकि 'प्रत्ययग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा के द्वारा ऐसा विहित है। इसलिए दोग्ध्री+ईयसुन्=('भस्याढे तद्धिते' से पुंवद्भाव) दोग्धृ+ईयसुन्। 'तुरिष्टेमेयःसु' से तृलोप, तृ का लोप होते ही घ् का ह् हो गया क्योंकि निमित्त के नष्ट ही होते नैमित्तिक (घ्) का भी विनाश हो जाता है ('निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' परिभाषा) अब दोह्+ईयसुन्+ङीप्=दोहीयसी। दूध देनेवाली दो गायों में अच्छी गाय।

(११५) **प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि** (५।३।१११)। इवार्थे। 'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' (ऋ० ५।४४।१)।

(११६) **अमु च च्छन्दसि** (५।४।१२)। किमेत्तिङव्ययघादित्येव। 'प्र तं नय प्रतरम्' (ऋ० १०।४५।९)।

वेद में इव (समान) के अर्थ में प्रत्न (प्राचीन), पूर्व विश्व (सब) इम (इदम् का आदेश) से थाल् प्रत्यय होता है। लोक में थाल् प्रत्यय केवल

प्रकार के अर्थ में होता है जैसे कथम्, सर्वथा इत्यादि। अतएव, प्रत्नथा= प्राचीन के समान, विश्वथा=सबों के समान, इमथा=इसके समान।

संस्कृत में नियम है कि किम् के बाद, एकारान्त शब्द के बाद, तिङ् क्रियारूप के बाद या अव्यय के बाद जो घ (तरप्, तमप्—उत्कर्षद्योतक प्रत्यय) लगता है उसमें आमु (आम्) प्रत्यय लगे जैसे—किंतराम्, पूर्वाह्णे तमाम्, पचतितराम्, उच्चैस्तराम्। किन्तु यह तब होता है जब द्रव्य का प्रकर्ष न हो, गुण या क्रिया का प्रकर्ष दिखलाया जाय। वेद में ऐसी दशा में (जहाँ लोक में आमु लगे वहाँ) अमु (अम्) प्रत्यय का भी प्रयोग देखते हैं जैसे- प्रतर+अम्=प्रतरम्। 'यस्येति च' से र के अ का लोप। प्रतरम्=प्रकर्षे प्रकर्षः, प्रकृष्टतरम्। यहाँ गुण के प्रकर्ष का बोध होता है। आमु प्रत्यय भी होता है—प्रतरां नितराम् इत्यादि।

अमु प्रत्यय में उकार लगाने का भी कारण है। केवल अम् कहने में द्वितीया एकवचन से भी भ्रम हो सकता है। इससे हानि यह है कि 'इ एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च' (६।३।६८) में जो अम् का आगम करके उसे प्रत्यय अम् के समान बतलाया गया है; यदि वह प्रस्तुत सूत्र में स्थित अमु के समान माना जाय तब तो अन्य तद्धितों के समान उसमें भी 'यस्येति च' से अन्तिम इकार और अकार का लोप होने लगे। अमु भी तद्धित प्रत्यय है। फिर तो स्त्री+अम्+मन्य में ई का लोप ही हो जायगा 'स्त्रियंमन्यः' या 'स्त्रीम्मन्य' बनेगा कैसे? इसलिए उस सूत्र में अम्=द्वितीया एकवचन का अम् प्रत्यय अम् में जो-जो विकृति आती है, वही वहाँ हो। स्त्री+अम्=स्त्रियम्, स्त्रीम् दोनों होता है, अतः इससे दो रूप होंगे। गो+अम्=गाम्, अतः गाम्मन्यः प्रस्तुत सूत्र में 'अमु' कह देने से ये समस्यायें सुलझ गई।

(११७) वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि (५।४।४१) स्वार्थे। 'यो नो दुरेवो वृकतिः' (ऋ० ४।४१।४)। 'ज्येष्ठतातिं वर्हिषदम्' (ऋ० ५।४४।१)।

वेद में वृक और ज्येष्ठ शब्दों से क्रमशः तिल् और तातिल् प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं, प्रत्यय लगने से इन शब्दों के अर्थ में कोई विकार नहीं आता। वृक

=वृकः (भेड़िया), ज्येष्ठतातिः=ज्येष्ठः । 'जो भेड़िया हमारे लिए दुर्गम (भयंकर) है।' 'कुश पर बैठने वाले ज्येष्ठ (सबसे बड़े) को……'।

(११८) अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि (५।४।१०३)। तत्पुरुषात् टच् स्यात्समासान्तः। 'ब्रह्मसामं भवति'। 'देवच्छन्दसानि'।

यह समासान्त-प्रत्ययों के अधिकार का है जो अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के अन्त में (५।४।६८ से अन्त तक) है। वेद में अन् या अस् से अन्त होने वाले नपुंसकलिङ्ग के शब्दों के साथ यदि तत्पुरुष समास बने और ये उत्तरपद के रूप में रहे तो इनसे समासान्त टच् (अ) प्रत्यय होता है। ब्रह्मन्+ङस् (ब्रह्मणः) + सामन्+सु (साम) = 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' से दोनों विभक्तियों (ङस् तथा सु) का लोप, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से पूर्वपद के न् का लोप तथा 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से उत्तरपद के टि (अन्) का लोप—ब्रह्मसाम्+अ (टच्)=ब्रह्मसामम्। उसी प्रकार देवानां छन्दांसि= देवच्छन्दस्+टच्=देवच्छन्दसम्। ब० व०—देवच्छन्दसानि। टच् प्रत्यय न लगने पर ब्रह्मसाम, देवच्छन्दः जैसे रूप होंगे जिनका बहुवचन ' 'ब्रह्मसामानि' (वेद में टच् लगने पर भी यही रूप होगा) तथा 'देवच्छन्दांसि' होगा।

(११९) बहुप्रजाश्छन्दसि (५।४।१२३)। 'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।' (ऋ० १।१६४।३२)

(१२०) छन्दसि च (५।४।१४२)। दन्तस्य दतृशब्दः स्याद्बहुव्रीहौ। उभयोदतः प्रतिगृह्णाति।

(१२१) ऋतश्छन्दसि (५।४।१५८)। ऋदन्ताद् बहुव्रीहेर्न कप्। हता माता यस्य हतमाता।

वेद में 'बहुप्रजाः' निपातन से सिद्ध होता है अर्थात् इसमें असिच् प्रत्यय लगता है, भले ही 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' (१२२) के अनुसार यहाँ प्रजा शब्द के पूर्व नञ् (अ), दुः या सु शब्द नहीं हैं। आशय यह है कि पूर्व में बहु शब्द रहने पर भी वेद में 'प्रजा' से असिच् प्रत्यय लग सकता है। बहु+प्रजा+ असिच् (अस्)='यस्येति च' से आ का लोप=बहुप्रज् अस्=बहुप्रजस्+ सु ('हल्ङ्याब्भ्यो०' से सुलोप, 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' से उपधादीर्घ) बहु-

प्रजाः=बह्व्यः प्रजाः यस्य सः (बहुव्रीहि)—'अधिक सन्तान वाला व्यक्ति कष्ट में पड़ा।' (दे० निरुक्त २।८)।

वेद में भी बहुव्रीहि समास में दन्त के स्थान में दत् आदेश होता है। लोक में तो केवल अवस्था मालूम होने पर ही होता है (वयसि दन्तस्य दतृ ५।४।१४१—द्विदन्, त्रिदन्, सुदन्। इह न—द्विदन्तः कुञ्जरः)। वैदिक उदाहरण है—उभयतः दन्ता यस्य=उभयोदन्, पञ्चमी में—उभयोदतः (यजमानात्)। 'वह दोनों ओर दाँतवाले यजमान से दान लेता है'। दतृ में ऋ का अनुबन्ध इसलिए लगाया है कि 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से यहाँ ऋ की इत्संज्ञा के कारण (उगित्) सर्वनामस्थान में नुम् का आगम होगा। सुद नुम् त्=सुदन्त्। सुदन्–सुदन्तौ–सुदन्तः।

लोक में बहुव्रीहि समास का उत्तरपद नदीसंज्ञक या ऋकारान्त शब्द हो तो उससे निश्चित रूप से कप् प्रत्यय होता है (बहुकुमारीकः देशः, बहुकर्तृकं वाक्यम्)। वेद में ऋकारान्त शब्द से कप् नहीं होता। कप् न होने से इसका सामान्य रूप चलेगा। हता माता यस्य स हतमाता (जिसकी माता मर चुकी है।) लोक में सदा 'हतमातृकः' होगा।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठ-अध्याय

[अभ्यास की अनित्यता—दीर्घ—सम्प्रसारण— 'चिखाद' और 'शीर्षन्' —पूर्वसवर्णदीर्घ—शि का लोप—अयादेश—प्रकृतिभाव (ए और ओ के बाद)—आङ् का अनुनासिक—स्य का सुलोप—सुडागम —द्वन्द्व-निपातन—'समान' का 'स'—'सह' का 'सध'—'कु' का 'कव' और 'का'—'ह' का 'ढ' होना —दीर्घ-प्रकरण—उपधा-दीर्घ—णि-लोप—अट् और आट्—इरे और (इ) रे के स्थान में रे—इयङ् उवङ्—उपधालोप—लोट् हि का धि—उसका वैकल्पिक अपित् होना—आत्मन् का आकारलोप—ऋ का र होना—टिलोप और यणादेश का निपातन।]

(अ) **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१)। **'छन्दसि वेति वक्तव्यम्'**[1] (वा०) यो जा॒गार॑। दाति॑ प्रि॒याणि॑।

(१२२) **तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य** (६।१।७)। तुजादिरा-कृतिगणः। प्रभ॒रा तू॒तुं॑जानः। सूर्ये॑ मामहा॒नम्। दा॒धार॒ यः पृ॑थि॒वीम्। स तू॑ताव ॥

अष्टाध्यायी के षष्ठाध्याय के आरम्भ में द्वित्व (किसी धातु का दो बार होना) का विधान है। इन द्वित्व-विधायक सूत्रों से लौकिक-भाषा में तो द्वित्व अवश्य होता है किन्तु वेद में विकल्प से होता है। लिट् लकार में अनभ्यस्त धातुओं के प्रथम अवयव का द्वित्व होता है (लिटि धातोरनभ्यासस्य ६।१।८) किन्तु जागृ+लिट् में द्वित्व नहीं हुआ और 'जागार' रूप बना है। जागृ+तिप् (णल्)—वृद्धि होने पर जाग् आ (उरण् रपरः से) र्+अ= जागार। लोक में अभ्यास होने से जजागार रूप होता। उसी प्रकार√दा चूंकि जुहोत्यादि-गण में होने से श्लु ग्रहण करेगा अतः 'श्लौ' (६।१।१०) से द्वित्व होना चाहिये पर उसे भी वैकल्पिक कर देने से द्वित्व नहीं किया गया है और √दा+तिप् होने से दाति बना। इस उदाहरण को यहाँ देने की

---

(१) अष्टा० ६।१।८ वार्तिक—द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम।

आवश्यकता नहीं थी क्योंकि 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७६) से इस √दा धा में श्लु ही विकल्प से होता है तो श्लु में वैकल्पिक-द्वित्व की क्या आवश्यक है ? ठीक है, यदि श्लु उपर्युक्त सूत्र से वैकल्पिक है तब √दा में हो भी सकता है ? तब तो 'श्लौ' को द्वित्व होगा जिसे रोकना प्रस्तुत वार्तिक काम है।

तुज् आदि धातुओं के अभ्यास (पूर्व रूप—पूर्वोऽभ्यासः ६।१।४) दीर्घ हो जाता है। तुजादि को आकार देखकर समझें कि इसमें कौन-कौ धातु हैं। काशिका कहती है कि यहाँ आदि शब्द प्रकार के अर्थ में है— √तुज् में अभ्यास का दीर्घ होना विहित नहीं है, किन्तु देखते हैं कि (तूतु आदि शब्दों में) दीर्घ हो गया। ऐसे धातु जिनके अभ्यास में दीर्घ हुआ है तुजादि कहे जायें। तुजादि की कोई संख्या नहीं, जितने भी धातु इसमें सकते हैं। पाणिनि अभ्यास-दीर्घ की उक्त प्रक्रिया को सिद्ध (साधु) होने अनुमति देते हैं। तूतुजानः—तुज्+कानच् (लिट् के स्थान में—लिट कानज्वा ३।२।१०६)—अभ्यास तुज् तुज्+आन—('हलादिः शेषः' से तुतुज् आन—अभ्यास दीर्घ > तूतुजान+सु (विसर्ग) तूतुजानः। प्रभरा= प्रहर, प्रहार करो। (हृ धातु का भ—हृग्रहोर्भश्छन्दसि)। मामहानम्— √ मह्=पूजा करना+कानच्। उपर्युक्त क्रियाओं से मह् मह्+आन> मह् आन > मामहानः। दाधार— √धृ+लिट् (णल्)—'अचो ञ्णिति' ७।२।११५ से वृद्धि, अभ्यास—धधार > 'अभ्यासे चर्च' ८।४।५४ दधार—अभ्यास दीर्घ करके दाधार (धारण किया या करता है)। तूताव— √ तु (सूत्र में ही प्रयुक्त धातु, लोक में अप्रयुक्त)+लिट् (णल्)—वृद्धि तु+तौ+अ—आवादेश (एचोऽयवायावः) तथा अभ्यास-दीर्घ करके तूताव

(१२३) बहुलं छन्दसि (६।१।३४)। ह्वः सम्प्रसारणं स्यात्। इन्द्रमाहुव ऊतये।

(क) ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि (६।१।३७ वा०)। ऋच्शब्दे परे त्रेः सम्प्रसारणमुत्तरपदादेर्लोपश्चेति वक्तव्यम्। तृचं सूक्तम्। छन्दसि किम् ? त्र्यृचानि॥

(ख) रयेर्मतौ बहुलम् (६।१।३७ वा०)। रेवान्। रयिमान्पुष्टिवर्धनः ॥

प्रस्तुत सूत्र के पहले सूत्र है—ह्वः सम्प्रसारणम् (६।१।३२) इसलिए इसका अर्थ हुआ कि वैदिक भाषा में बहुल-रूप से √ह्वे (पुकारना) का सम्प्रसारण[1] होता है। √ह्वे का सम्प्रसारण होने पर इसके व् को उ हो जायगा, अतः आ+हु+लट् लकार में आत्मनेपद का ए (उत्तमपुरुष एकवचन)। 'बहुलं छन्दसि' से शप्-विकरण का लोप। 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६।४।७७)' से उवङ् आदेश—आहुवे। लौकिक-भाषा में आङ् पूर्वक √ह्वे का आत्मनेपद रूप वहीं होता है जहाँ स्पर्धा का अर्थ हो (स्पर्द्धायामाङः १।३।३१) जैसे आह्वयते मल्लो मल्लम्। यहाँ यद्यपि स्पर्द्धा का अर्थ नहीं है फिर भी आत्मनेपद हो गया है क्योंकि वेद में सारे नियम वैकल्पिक हो जाते हैं—छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते। मन्त्र का अर्थ है—'रक्षा के लिए मैं इन्द्र को बुलाता हूँ।' ह्वे धातु से दोनों प्रकार के रूप वेदों में मिलते हैं—सम्प्रसारणयुक्त जैसे—मित्रं हुवे पूतदक्षम् (ऋ० १।२।७) तथा सम्प्रसारणरहित जैसे—ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये (ऋ० १।३५।१)। पहले उदाहरण में आत्मनेपद तथा दूसरे में परस्मैपद है।

वैदिक-भाषा में जब त्रि शब्द के बाद ऋच् शब्द आये तो त्रि का सम्प्रसारण होता है तथा उत्तर-पद (ऋच्) के प्रथम-वर्ण (ऋ) का भी लोप हो जाता है—त्रि+ऋच्>तृ+ऋच्>तृच्, इसमें समासान्त 'अ' प्रत्यय लगेगा (ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे ५।४।७४)। जिस सूक्त में केवल तीन ऋचायें हैं वह 'तृचं सूक्तम्'। वैदिक भाषा से इतर स्थानों में—त्र्यृचानि रूप होगा।

---

(१) सम्प्रसारण का अर्थ है—यण् (य व र ल) का इक् (इ उ ऋ ऌ) हो जाना। इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४५)। ह्वे धातु में व् का उ होता है किन्तु वस्तुतः 'वे' ही 'उ' बनेगा, केवल व् नहीं। द्रष्टव्य—सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८ जिसके अनुसार सम्प्रसारण होने पर पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। ह्वे >ह्+व्+ए > ह् उ ए > हु। उ+ए=उ।

काशिका में प्रयोग दिया गया है 'त्र्यृचं कर्म' अर्थात् वह यज्ञकर्म जिसमें तीन ऋचाओं का प्रयोग हो (६।१।३७ का प्रथम वार्तिक)।

रयि (धन) शब्द के बाद मतुप् प्रत्यय रहने पर विकल्प से रयि के का सम्प्रसारण होता है। सम्प्रसारण होने पर र इ+मतुप् (छन्दसी ८।२।१५ से इकार के बाद मतुप् के म् का व्)=रेवत्—सु लगाने से पुं में रेवान्। सम्प्रसारण के अभाव में रयिमान्। रेवान् का प्रयोग ऋ० १।१ में मिलता है—यो रेवान्यो अमीवहा (जो ब्रह्मणस्पति धनदाता तथा रोग का निवारक है)।

(१२४) चायः की (६।१।३५)। न्य १ न्यं चिक्युर्न नि क्युर्न्यम्। लिटि उसि रूपम्। बहुलग्रहणानुवृत्तेर्नेह। अग्नि ज्यो निचाय्य॥

चाय् धातु (चायृ पूजानिशमनयोः भ्वादिः) का विकल्प से वेद में आदेश हो जाता है। चाय्+लिट् (उस्—झि के स्थान में) =की अभ्यास कार्य होने पर, की की उस्=('कुहोश्चुः' से अभ्यास का ची 'ह्रस्वः' से चि) चिक्युः ('इको यणचि' से यण्)। एक की पूजा की, की नहीं। यह नियम चूंकि विकल्प से होता है इसलिये 'निचाय्य' रूप में नहीं लगा। यहाँ नि+चाय्+ल्यप्। अनुबन्धों (ल् प्) का लोप निचाय्य। अग्नि रूपी ज्योति की पूजा करके ....।

(१२५) अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषे तित्याज श्राताः श्रि माशीराशीर्ताः (६।१।३६)। एते छन्दसि निपात्यन्ते। इन्द्रश्च वि यदपस्पृधेथाम्। स्पर्धेः लङि आथाम्। अर्कमानृचुः। वसून्यानृ अर्चेरर्हेश्च लिटि उसि। चिच्युषे। च्युङो लिटि थासि। यस्तित्या त्यजेर्णलि। श्रातास्त इन्द्र सोमाः। श्रिता नो ग्रहाः। श्रीञ् निष्ठायाम्। आशिरं दुह्रे। मध्यत आशीर्तः। श्रीञ् एव नि निष्ठायां च॥

सम्प्रसारण-सूत्रों के क्रम में पाणिनि निम्नलिखित नौ शब्दों को नि से सिद्ध मानते हैं क्योंकि ये शब्द सूत्रों से उपपन्न नहीं हैं (सूत्रेषु यदनु तन्निपातनेनोपपन्नं भवति)—

(१) अपस्पृधेथाम्—√स्पृध्+लङ्+आथाम्—लङ् का अट्+निपातन से द्वित्व स्पर्ध् स्पर्ध्+आथाम् ('पुगन्तलघूपधस्य' से गुण) ='हलादिः शेषः' न होकर 'शर्पूर्वाः खयः' के कारण अप स्पर्ध् आथाम्। अब निपातन से धातु का सम्प्रसारण, तथा 'आतो ङितः' (७।२।८१) से आथाम् के प्रथम आ का इय् आदेश—अपस्पृधेथाम्। इस प्रकार इस प्रक्रिया में निपातन से द्वित्व, अभ्यास के पहले अडागम, सम्प्रसारण तथा धातु के (स्प में) अकार का लोप ये ४ कार्य होते हैं—इसी प्रक्रिया को दीक्षित ने स्वीकृत किया है। कुछ दूसरे वैयाकरण, जिनमें नागेश प्रमुख हैं, कहते हैं कि इसे दूसरे प्रकार से सिद्ध करें—अप (उपसर्ग)+स्पर्ध्+आथाम् (लङ्)। सभी क्रियाएँ उपर्युक्त रहेंगी लेकिन निपातन से सम्प्रसारण तथा धातु के अकार का लोप केवल दो कार्य हुए। अट् का लोप तो 'बहुलं छन्दसि अमाङ्योगेऽपि' से हो गया। इन दोनों प्रक्रियाओं का भेद इसी से समझा जा सकता है कि प्रथम प्रक्रिया का लौकिक रूप होगा 'अस्पर्धेथाम्,' दूसरी प्रक्रिया का 'अपास्पर्धेथाम्'।

(२) आनृचुः— √अर्च्+लिट् (उस्)=निपातन से सम्प्रसारण और अ का लोप होकर ऋच्+उस्, अब द्वित्व ऋच् ऋच् उस्। प्रथम ऋ के स्थान में 'उरत्' (६।४।६६) से अ तथा 'अत आदेः' ७।४।७० से इसका दीर्घ—आ ऋच् उस्। अब 'तस्मान्नुड् द्विहलः' ७।४।७१ से नुट् का आगम और वर्ण सम्मेलन करने पर 'आनृचुः'। 'अर्चनीय इन्द्र की पूजा की थी'। लोक में आनर्चुः।

(३) आनृहुः—√अर्ह्+लिट् (उस्)—निपातन से सम्प्रसारण और अकार का लोप। ऋह्+उस्। द्वित्व, अभ्यास के ऋ को अकार तथा उसका दीर्घ, नुट् का आगम=आनृहुः। सभी कार्य ऊपर की तरह हुए। 'धन पाने की योग्यता वाले थे'। लोक में—आनर्हुः।

(४) चिच्युषे—√च्यु (जाना)+लिट् (थास् के स्थान में से)। अभ्यास कार्य, च्यु च्यु से। अब निपातन से अभ्यास में सम्प्रसारण तथा निपातन से ही 'से' के पूर्व इट् का अभाव, मूर्धन्य 'आदेशप्रत्यययोः' से—चिच्युषे=गये थे (तुम)। लोक—चुच्युविषे।

(५) तित्याज—√त्यज् (छोड़ना)+लिट् (णल्)—निपातन : अभ्यास में सम्प्रसारण—त्यज् त्यज्+अ=तित्वज् अ, णित् के कारण (ण) धातु की वृद्धि—तित्याज। 'जिसने छोड़ा'। लोक में 'तत्याज'।

(६) श्राता:—√श्रीञ् (पाके)+क्त=श्री का निपातन से श्र आदेश पुं० बहु० श्राताः। हे इन्द्र ! तुम्हारे लिए सोम तैयार है।

(७) श्रितम्—श्री+क्त—यहाँ श्री का निपातन से श्रि आदेश-श्रितम्, श्रिताः इत्यादि।

(८) आशिरम्—आ+√श्री+क्विप्। श्री का निपातन से शि आदेश। आशिर् या आशीर्। मूल सूत्र में आशीर् (दीर्घ ई) शब्द है कि उदाहरणों में ह्रस्व होने के कारण कुछ लोग भ्रम से सूत्र में भी ह्रस्व ही मानते हैं। यह ठीक नहीं—प्रातिपदिक में आशीर् होता है सु लगने पर आशीः। अन्य स्थानों में ह्रस्व ही होता है। अतः उदाहरण और सूत्र को एक न समझें। काशिका तो उदाहरण में, वृत्ति में—दोनों जगह दीर्घ ही मानती है—'श्रीणातेः आङ्पूर्वस्य क्विपि शीरादेशः'''तामाशीरा दुहन्ति।'

(९) आशीर्त्तः—आ+√श्री+क्त—श्री के स्थान में शिर् निपातन से। 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' से त को न होना चाहिये किन्तु निपातन के कारण वह भी नहीं हुआ। 'हलि च' से दीर्घ—आशीर्तः (पुं० बहु०)।

(१२६) खिदेश्छन्दसि (६।१।५२)। खिद दैन्ये। अस्यैच आ वा स्यात्। चिखाद। चिखेदेत्यर्थः॥

(१२७) शीर्षंश्छन्दसि (६।१।६०)। शिरःशब्दस्य शीर्षन् स्यात्। शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतः॥

वैदिक-भाषा में √खिद् (दीनता, क्लेश) धातु के एच् (एकार) के स्थान में अकार का आदेश होता है। यह भी वैकल्पिक है। खिद् से लिट् लकार में णल् प्रत्यय (अन्य पुरुष, एक वचन) होने पर 'चिखेद' रूप हुआ। अब एकार के स्थान पर आकार करके 'चिखाद' रूप बना। वेद में दोनों प्रयोग होते हैं। खिद् धातु का रूप दिवादि में आत्मनेपद ही माना गया है अतः लिट् लकार में 'चिखिदे' रूप होगा। उपर्युक्त नियम में चिखेद

व्यत्यय ही से हुआ है। परस्मैपद के दोनों रूप (चिखेद—चिखाद) केवल वेद के लिए ही हैं।

वेदों में 'शिरस्' के स्थान में शीर्षन् आदेश होता है। शीर्षन् से षष्ठी एकवचन में—शीर्षन्+ङस्=(अल्लोपोऽनः ६।४।१३४) से अ का लोप शीर्षन् अस्=('रषाभ्यां नो णः समानपदे' से न् का णत्व) स् का रुत्वविसर्ग करके शीर्ष्णः (=सिर का)। णत्व के विषय में यदि यह प्रश्न उठे कि विधि के विषय में पहले से वर्त्तमान (अकार) का भी स्थान माना जाय (पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भावः) अर्थात् अ लोप होने पर भी विहित है तो दूसरा णत्व-विधायक सूत्र लें—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि। अब तो बीच में अ पड़ने पर भी णत्व हो जायगा। नागेश का मन्तव्य है कि वेद में विधियाँ बहुल रूप से होती हैं, अतः कभी-कभी शिरस् का शीर्षन् नहीं भी होता। संस्कृत भाषा में केवल शिरस् ही रहता है। वस्तुतः सिर के अर्थ में वैदिक युग में शिरस् तथा शीर्षन् दो शब्द प्रयुक्त होते थे। वैदिक युग के अन्त में शीर्षन् का प्रयोग समाप्त हो गया, शिरस् रह गया। शिरस् को पूर्वपद में रखकर जहाँ समास करना होता है वहाँ लोक में भी शीर्षन् होता है, जैसे—शीर्षासन, शीर्षस्थ शिरःस्थ भी), शीर्षस्थानीय इत्यादि।

(१२८) **वा छन्दसि** (६।१।१०६)। दीर्घाज्जसि इचि च पूर्वसवर्णदीर्घो वा स्यात्। वाराही-वाराह्यौ। मानुषीरीळते विशः। उत्तरसूत्रद्वयेऽपीदं वाक्यभेदेन सम्बद्ध्यते। तेनामि पूर्वत्वं वा स्यात्। शमीं च शम्यं च। सूम्यँ सुषिरामिव।

(क) **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८)। इति पूर्वरूपमपि वा। इज्यमानः—यज्यमानः।

लौकिक संस्कृत में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६।१।१०२) सूत्र के अनुसार प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में अक् के बाद यदि कोई अंजादि (स्वरादि) प्रत्यय हो तो पूर्व और पर दोनों के स्थानमें पूर्ववर्ण (अक्) के सवर्ण (समान वर्ण का) दीर्घ आदेश होता है, जैसे अग्नि+औ=अग्नी। किन्तु 'दीर्घाज्जसि च' (६।१।१०५) के अनुसार पूर्व में दीर्घ वर्ण हो और पर में अस् (बहु०) या इजादि (अ को छोड़ कोई दूसरा स्वर) प्रत्यय हो

तो ऐसा पूर्वसवर्ण आदेश नहीं होता जैसे—कुमारी+औ=कुमा कुमारी+जस्=कुमार्यः। अब प्रस्तुत वैदिक-सूत्र के अनुसार यदि पर जस् या इजादि प्रत्यय हो तो दीर्घ प्रातिपदिक के बाद प्रथमा और द्विती विभक्तियों में विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश होता है। जैसे—वाराही+ औ=(पूर्व सवर्ण दीर्घ होने पर) वाराही, चूंकि पूर्व वर्ण ई है पर में अतः पूर्व वर्ण के रूप में दोनों वर्ण बदलकर ई हो गये हैं। इसे ही पूर्वसव दीर्घ होना कहते हैं। यदि पूर्वसवर्णदीर्घ न हो तो 'दीर्घाज्जसि च' सूत्र समान ही यणादेश (इको यणचि) होकर वाराह्यौ बनेगा। वराह+ (वराहस्य विकारः 'प्राणिरजतादिभ्यः' सूत्र से)=वाराह+ङीप् (टिड्ढ णञ्०)=वाराही। द्विवचन प्रथमा या द्वितीया में—वाराही या वाराह्यौ उसी प्रकार मनु+अञ् (मनोर्जातावञ् यतौ षुक् च ४।१।१६१)=मानुषः+ ङीप्=मानुषी। इससे जस् लगाकर पूर्वसवर्णदीर्घ किया तो 'मानुषीः' ब लोक में मानुष्यः (यणादेश) होगा। मनु से उत्पन्न प्रजा उसकी पू करती है।

यह 'वा छन्दसि' सूत्र बाद के दो सूत्रों 'अमि पूर्वः' (१०७) त 'सम्प्रसारणाच्च' (१०८) में भी अनुवृत्त होता है। अतः इन दोनों को वैकल्पिक कर देता है। पहले सूत्र का अर्थ है—अक् प्रातिपदिक के ब द्वितीया एकवचन का प्रत्यय अम् हो तो पूर्व के समान ही एकादेश होता जैसे—अग्नि+अम्=अग्निम्, नदी+अम्=नदीम्। वैकल्पिक होने के कार वेद में पूर्वरूप एकादेश भी हो सकता है, या यणादेश भी—शमी+अम्= (पूर्वरूप एकादेश होने पर) शमीम्। यणादेश होने पर शम्यम्। सूर्मि+ अम् (यणादेश)=सूर्म्यम् (सुन्दर तरङ्गों को)। इसी तरह देवीम्—देव्यम्

दूसरा सूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है तथा सभी सम्प्रसारणों की प्रक्रियाओं काम देता है। इसका अर्थ है कि सम्प्रसारण होने पर यदि पर में कोई स्वर तो दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे यज्+यक् (क वाच्य में)+शानच् (मुक् का आगम—'आने मुक्')—'वचिस्वपियजादी किति' ६।१।१५ से यज् का सम्प्रसारण होने पर य् का इ, शेष रहा अ। उस

भी पूर्वरूप एकादेश इज्=इज्यमानः। पूर्वरूप एकादेश न होने पर इ+अज्=(यण्) यज्=यज्यमानः। दोनों रूप वेद में होते हैं।

(१२९) **शेश्छन्दसि बहुलम्** (६।१।७०)। लोपः स्यात्। या ते गात्राणाम्। ता ता पिण्डानाम्।

(क) **एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्** (६।१।९४ वा०)। अपां त्वेमन्। अपां त्वोद्मन्।

'जश्शसोः शिः' (७।१।२०) सूत्र के अनुसार नपुंसकलिंग में जस् और शस् प्रत्यय को शि आदेश होता है। शि होने पर 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) सूत्र के अनुसार नुमागम होता है। जैसे कुण्ड+जस्=कुण्डानि, तत् से तानि, यत्—यानि आदि। वेद में इस शि का लोप हो जाता है। 'शि सर्वनामस्थानम्' के अनुसार शि को सर्वनामस्थान कहते हैं। यत्+जस् (=शी)। यद्यपि शि का लोप हो जाता है तथापि अपनी छाप तो वह छोड़ता ही जाता है, अपनी उपस्थिति में होने वाली क्रियाओं को वह अपनी अनुपस्थिति में भी देता जायगा (प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्)। अतः 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) से य, अब 'नपुंसकस्य झलचः' से नुम् आगम तथा सर्वनामस्थान के कारण 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से दीर्घ होकर यान्। (स्मरण रहे कि शि होने पर यानि हो जाता) अब 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से न् का लोप 'या'। उसी प्रकार तानि के स्थान में ता। वनानि से वना। फलानि—फला। विश्वानि—विश्वा।

वार्तिक 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) सूत्र का है। अवर्णान्त पद से एमन् आदि शब्दों के पर में रहने से पररूप एकादेश होता है। त्वा+एमन् (पर में ए है अतः एकार ही फल होगा)=त्वेमन्। त्वा+ओद्मन्=त्वोद्मन्। सामान्य नियम के अनुसार 'वृद्धिरेचि' से यहाँ वृद्धि होनी चाहिए किन्तु विशेष नियम का वार्तिक इसे रोक देता है। वृद्धि होने पर त्वैमन् और त्वौद्मन् ये रूप होते।

(१३०) **भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि** (६।१।८३)। बिभेत्यस्मादिति भय्यः। वेतेः प्रवय्या इति स्त्रियामेव निपातनम्। प्रवेयमित्यन्यत्र। छन्दसि किम्? भेयम्। प्रवेयम्।

(क) हृदय्या उपसंख्यानम् (वा०) । ह्रदे भवा ह्रदय्याः आपः भवे छन्दसि यत् ।

वेद में भय्य और प्रवय्य इन दो शब्दों की सिद्धि निपातन से मानी जाती है । काशिका के अनुसार √भी (डरना) से यत् प्रत्यय (कृत्यल्युटो बहुलम्) करके अयादेश का निपातन हुआ है—भी+यत्=भय्+य=भय्यः(=जिससे लोग डरें) । प्र+वी धातु से भी यत् करने पर अय् आदेश का निपातन—प्रवय्य (चूंकि दीक्षितजी के अनुसार यह स्त्रीलिंग में ही निपातित होता है अतः) प्रवय्या । वेद से अन्यत्र भी+यत् (अचो यत्) 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण भेयम् । प्र+वी+यत्=प्रवेयम् ।

ह्रद शब्द से भी वेद में यत् प्रत्यय ('भवे छन्दसि' के द्वारा) लग कर अय् आदेश होता है । ह्रद में उत्पन्न=ह्रदय्या आपः (जल) । आपः स्त्रीलिंग है अतः ह्रदय्याः । कुछ लोग इस वार्तिक को यों पढ़ते हैं—ह्रदय्या आपः उपसंख्यानम् । अर्थ होगा कि 'आपः' शब्द के साथ ही 'ह्रदय्याः' का निपातन होता है ।

(१३१) प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे (६।१।११५) । ऋक्पादमध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यादति परे, न तु वकारयकारपरेऽति । उप प्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१) । सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० ५।७९।१) । अन्तःपादं किम् ? एतासं एतेऽर्चन्ति । अव्यपरे किम् ? तेऽवदन् (ऋ० १०।१०९।१) । तेऽयजन् ।

प्रकृत्या=प्रकृतिभाव, सन्धि के नियमों का नहीं लगना, ज्यों का त्यों रह जाना । अन्तःपादम्=ऋग्वेद के पाद (चरण) के बीच में । अव्यपरे=वकार और यकार पर में न हो । लौकिक भाषा में नियम है कि यदि पद के अन्त में एङ् (ए ओ) हो और बाद अकार (अत्) हो तो दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है अर्थात् ए+अ=ए, ओ+अ=ओ जैसे ते+अपि=तेऽपि । रामो+अपि=रामोऽपि । किन्तु वैदिक-भाषा में ऋग्वेद के चरण के बीच में ऐसी अवस्था (एङ् के बाद अत्) होने पर प्रकृतिभाव होता है—दोनों वर्ण यथापूर्व रह जाते हैं, सन्धि का नियम नहीं लगता। यदि अ के बाद व या य नहीं हो तभी प्रकृतिभाव होता है अव या अय

जैसे शब्द होने पर प्रकृतिभाव न होकर सन्धि हो जाती है। उदाहरण— उपप्रयन्तो अध्वरम्। सुजाते अश्वसूनृते। 'पाद के मध्य में हो' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि पाद के आदि-अन्त में ऐसी अवस्था हो तब सन्धि ही हो जाय जैसे—एतास एतेऽर्चन्ति। यहाँ 'एतास एते' प्रथम चरण का अन्त है, 'अर्चन्ति' द्वितीय चरण का प्रथम शब्द है अतः सन्धि हो गई। अ के बाद व या य रहने पर भी सन्धि हो जाती है जैसे—ते+अवदन्=तेऽवदन्। ते+अयजन्=तेऽयजन्।

(१३२) **अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च** (६।१। ११६)। एषु व्यपरेऽप्यति एङ् प्रकृत्या। वसुभिर्नो अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात् (ऋ० ४।४।१५)। मा शिवासो अवक्रमुः (ऋ० ७। ३२।२७)। ते नो अव्रत। शतधारो अयं मणिः। ते नो अवन्तु। कुशिकासो अवस्यवः (ऋ० ३।४२।९)। यद्यपि बह्वृचैः—ते नोऽवन्तु रथतूः, सोऽयमागात्, तेऽरुणेभिरित्यादौ प्रकृतिभावो न क्रियते, तथापि बाहुलकात् समाधेयम्। प्रातिशाख्ये तु वाचनिक एवाऽयमर्थः॥

निम्नलिखित शब्द हैं जिनमें अ के बाद व् या य् है (जो उपर्युक्त सूत्र द्वारा सन्धि का हेतु है) फिर भी इनके पर में रहने पर भी एङ् का प्रकृतिभाव होता है, सन्धि नहीं—इस प्रकार उपर्युक्त उत्सर्गसूत्र का यह अपवाद है— अव्यात् (रक्षा करे), अवद्यात् (पाप से), अवक्रमुः (चले गये), अव्रत (चुना था), अयम् (यह), अवन्तु (रक्षा करें), अवस्युः (रक्षा की इच्छा करने वाला)। उदाहरण—नो+अव्यात्=नो अव्यात्। अहो+अवद्यात्= अहो अवद्यात्। शिवासो अवक्रमुः। नो अव्रत। शतधारो अयम्। नो अवन्तु। कुशिकासो अवस्यवः (कुशिक के पुत्र रक्षा के इच्छुक हैं)। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार इन स्थानों में सन्धि हो जानी चाहिए थी।

ऋग्वेद की एक शाखा बह्वृचों की है। वे लोग इस सूत्र के शासन में नहीं आते क्योंकि वे पढ़ते हैं—'ते नोऽवन्तु'[1] जब कि इस सूत्र के अनुसार 'नो अवन्तु' होना चाहिए। उसी तरह सोऽयम् भी है। 'तेऽरुणेभिः' ऋक् के मध्य

---

(१) तुलरीय—ऋ० १०।१५।५ अधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्—यहाँ सन्धि हो गयी है।

में है अतः 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' के विरुद्ध हुआ, इसे 'ते अरुणेभिः' ही
जाना चाहिए। इन स्थानों में बह्वृच शाखा वाले प्रकृतिभाव नहीं करते
इनका समाधान बाहुलक-विधि से कर सकते हैं कि वेद में सारे नियम
वैकल्पिक हैं अतः प्रकृतिभाव का होना, न होना दोनों ही शुद्ध और सिद्ध है

(१३३) यजुष्युरः (६।१।११७)। उरःशब्द एङन्तोऽति प्रकृत्या
यजुषि। उ॒रो अ॒न्तरि॑क्षम् (यजु० ४।७)। यजुषि पादाभावादनन्त
पादार्थं वचनम्।

यजुर्वेद में एङ् से अन्त होने वाले (ए या ओ किन्तु केवल 'ओ' ही
क्योंकि उरः शब्द में 'ओ' ही की विधि मिलती है) उरः शब्द के बाद अ
हो तो प्रकृतिभाव हो जाता है। जैसे—उरो अन्तरिक्षम्। ऐसे स्थानों
सिद्धि 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' से भी हो सकती थी, फिर इस सूत्र को पृ
देने का प्रयोजन? यही कि वह सूत्र ऋग्वेद के लिए है, जहाँ पाद होते हैं
यजुर्वेद में सर्वत्र चरण ही नहीं हैं अधिकांश तो वह गद्य में है, अतः इस
के द्वारा पाद के मध्य न होने पर भी इसे सिद्ध किया जाता है।

**(१३४) आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिकेपूर्वे (६।
११८)**—यजुषि अति प्रकृत्या। आपो॑ अस्मान्मा॒तरः॑ शुन्धयन्तु (यजु०
४।२)। जुषाणो अ॒ग्नि॒राज्य॑स्य (यजु० ५।३५)। वृष्णो॒ अंशुभ्या
(यजु० ७।१)। वर्षि॑ष्ठे॒ अधि॒ नाके॑।[1] अम्बे अम्बाले अम्बि
(तुल० वाज० सं० २३।१८)। अस्मादेव वचनात् 'अम्बार्थ-
(७।३।१०७) इति ह्रस्वो न।

यजुर्वेद में निम्नलिखित एङन्त (एकारान्त—ओकारान्त) शब्दों के
अकार रहने से प्रकृतिभाव होता है—आपो (अपस् का प्रथमा-बहुवचन
जुषाणो (=सेवमानः।√जुष्+शानच्), वृष्णो (वृषन् की षष्ठी=बल
का), वर्षिष्ठे (सप्तमी एकवचन=सबसे ऊँचे पर)—ये शब्द तथा अम्बि
शब्द के पूर्व में अम्बे (सं० एकवचन) तथा अम्बाले शब्द। अम्बा, अम्बि
और अम्बाला ये तीन बहनें थीं। सूत्र के अनुसार ही अम्बादि शब्दों में सम्बो
धन में भी ह्रस्व नहीं हुआ यद्यपि 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' के अनुसार

(१) वाज० सं० १।२२ वर्षिष्ठेऽधि। तै० सं० १।१।८।१ वर्षिष्ठे अधि

'अम्ब' होना चाहिए—प्रयोग भी है, 'जगदम्ब विचित्रमत्र किम्? (शङ्कराचार्य) परन्तु यह लोक की बात है। सूत्र के उदाहरण—आपो अस्मान् (जल माताएँ हमें पवित्र करें)। जुषाणो अग्निः (अग्निदेवता आज्य=घी का ग्रहण करते हुए········)। वृष्णो अंशुभ्याम् (बलवान् सूर्य की किरणों से)। वर्षिष्ठे अधि (सबसे ऊँचे आकाश में)। अम्बे अम्बाले अम्बिके। अम्बिके शब्द के पूर्व अम्बे में तथा अम्बाले में प्रकृतिभाव हो गया है। 'अम्बे अम्बाले अम्बिके' पाठ यजुर्वेद की किसी उपलब्ध शाखा में नहीं है। वाजसनेयि संहिता (२३।१८) में पाठ है—अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके। तैत्तिरीय संहिता (७।४।१९।१) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।९।६।३) में पाठ है—अम्बे अम्बाल्यम्बिके। संभव है किसी अन्य शाखा का पाठ देखकर पाणिनी ने इस सूत्र का निर्माण किया होगा।

(१३५) **अङ्ग इत्यादौ च** (६।१।११९)। अङ्गशब्दे य एङ् तदादौ च अकारे य एङ् पूर्वः सोऽति प्रकृत्या यजुषि। प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत् (तुलनीय—वाज० सं० ६।२०)।

इस सूत्र में 'इति' का अर्थ है तत् (वह=अङ्गशब्द)। इसलिये सूत्र का अर्थ है—अङ्गे च अङ्गादौ च। अङ्गशब्द में जो एङ् है (अर्थात् इसके अन्तिम वर्ण में) तथा अङ्गशब्द के प्रथम वर्ण—अकार—के पूर्व में जो एङ् है दोनों प्रकार के एङ् के बाद अकार रहने पर यजुर्वेद में प्रकृतिभाव होता है। उदाहरण से स्पष्ट होगा—प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत्। यहाँ अङ्ग शब्द (प्रथम) के अन्त में एकार है जिसके बाद अ है अतः प्रकृतिभाव हुआ। दूसरे 'अङ्गे' के बाद भी अ है वहाँ भी प्रकृतिभाव हुआ। यही नहीं, पहले अङ्गशब्द के पूर्व में जो अकार है उसके पहले भी 'प्राणो' का एङ् (ओ) है—उसे भी प्रकृतिभाव की चोट सहनी पड़ी। कहने का अभिप्राय यही है कि 'अङ्गे' शब्द के पूर्व में एङ् रखें या पर में अकार रखें, सन्धि किसी तरफ नहीं होगी। ऐसा है 'अङ्गे' शब्द! कुछ लोगों ने 'अङ्गे अङ्गे अशोचिषम्' उदाहरण भी दिया है। वहाँ भी इसी प्रकार समझ लें।

(१३६) **अनुदात्ते च कुधपरे** (६।१।१२०)—कवर्गधकारपरेऽनुदात्तेऽति परे एङ् प्रकृत्या यजुषि। अयं सो अग्निः (यजु० १२।४७)।

अ॒यं सो अध्व॒रः। अनुदात्ते किम् ? अथोऽग्रे रुद्रे। अग्रशब्द आद्युदात्तः। कुधपरे किम् ? सोऽयमग्निमतः।

यजुर्वेद-संहिता में किसी शब्द के अन्त में एङ् (ए ओ) का प्रकृतिभाव होता है यदि उसके अनन्तर अनुदात्त अकार हो तथा अकार के बाद कवर्ग या ध् वर्ण भी रहें। उदाहरण—सो+अग्निः। एक ओर ओ है दूसरी ओर अ (जिसके बाद कवर्ग का एक वर्ण ग् है)। सो अध्वरः। एक ओर ओ, दूसरी ओर अ (जिसके बाद ध है)। अ अनुदात्त क्यों रहे ? नहीं रहने पर सन्धि हो जायगी। जैसे अथो+अग्रे=अथोऽग्रे। यहाँ अग्रे का अ उदात्त है=समूचे शब्द को आद्युदात्त कहेंगे। अ के बगल में कवर्ग या ध क्यों रहे ? नहीं रहने पर सन्धि हो जायगी—सो+अयम्=सोऽयम्। यहाँ अ के बाद य् है इसलिए सन्धि हो गई। स्मरण रहे कि 'अव्यादवद्यात्०' सूत्र की प्राप्ति ऋचाओं में ही है—यजुर्वेद के गद्य में वह हस्तक्षेप नहीं करे अतः 'सोऽयम्' में प्रकृतिभाव का प्रश्न नहीं उठता।

(१३७) अवपथासि च (६।१।१२१)। अनुदात्तेऽकारादौ अवपथाः शब्दे यजुषि एङ् प्रकृत्या। त्री रु॒द्रेभ्यो॒ अवपथाः। वपेः थासि लङि 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इत्यनुदात्तत्त्वम्। अनुदात्ते किम् ? यद्रु॒द्रेभ्यो॒ऽवपथाः। 'निपातैर्यद्यदि०' (८।१।३०)—इति निघातो न।

यजुर्वेद में एङ् के बाद यदि ऐसा 'अवपथाः' (√वप्+लङ् मध्यमपुरुष एक०) शब्द हो जिसके आदि वर्ण का अकार अनुदात्त हो तो प्रकृतिभाव होता है। उदाहरण—त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः (रुद्रों के लिए तीन बार—त्रिः—बिखरा दो)। √वप् (फैलाना) से लङ् लकार में थास् प्रत्यय (मध्यम पुरुष एकवचन) हुआ। सामान्यतः लङ् लकार के अट् (augment) को उदात्त होता है क्योंकि सूत्र है—'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।७१)। किन्तु क्रियापदों में उदात्त स्वर तभी होता है जब वे वाक्य के आदि में हों या किसी क्रियापद के बाद हों, अन्यथा क्रियापद अनुदात्त ही हुआ करते हैं—इसे 'तिङ्ङतिङः' सूत्र में कहा गया है; जिसका अर्थ है कि तिङन्त से भिन्न अन्य किसी पद (सुवन्त, अव्यय आदि) के बाद आने वाला तिङन्त (क्रियापद) अनुदात्त होता है। उपर्युक्त उदाहरण में त्रिः तथा रुद्रेभ्यः शब्दों के बाद 'अवपथाः'

आया है इसलिए पूरा का पूरा शब्द ही अनुदात्त है, अ की तो बात ही क्या ? अब प्रश्न है कि सूत्र सूत्र का अर्थ करने में अवपथाः को अनुदात्त रहना क्यों आवश्यक कहा गया है। यदि किसी अवस्था में 'अवपथाः' का अकार उदात्त हो गया तो फिर सन्धि ही हो जायगी। 'निपातैर्यद्यदिहन्त०' आदि लम्बे सूत्र के द्वारा यद्, यदि, हन्त, कुवित् आदि निपातों से युक्त होने पर तिङन्त अनुदात्त नहीं होता, उदात्त ही रहता है—निघात (उदात्त स्वर का अनुदात्त में परिवर्तन) नहीं होता। जैसे 'यद् रुद्रेभ्योऽवपथाः'—यहाँ यद् के साथ 'अवपथाः' है अतः अ उदात्त है और इसी कारण सन्धि हो गई। प्रो० मैकडोनल ने निपातों से युक्त होने की अवस्था को कहा है कि अप्रधान वाक्य-खंड (Subordinate Clause) में तिङन्त अपने स्वर को छोड़ता नहीं।

(१३८) आङोऽनुनासिकश्छन्दसि (६।१।१२६)। आङोऽचि परेऽनुनासिकः स्यात् स च प्रकृत्या। अ॒भ्र आँ अ॒पः (ऋ० ५।४८।१) ग॒भी॒र आँ उ॒ग्रपुंत्रे (ऋ० ८।६७।११)॥

(क) ईषाअक्षादीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः (वा)। ईषा अक्षो हिरण्ययः (ऋ० ८।५।२९)। ज्या इ॒यम् (ऋ० ६।७५। ३)। पू॒षा अ॑विष्टु (ऋ० १०।२६।९)।

वैदिक भाषा में आङ् के बाद यदि कोई स्वर हो तो उस आङ् को अनुनासिक होता है तथा प्रकृतिभाव भी होता है। आङ् में ङ् के साथ आ ग्रहण किया गया है—ङ् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है अतः इस आङ् को ङित् और शुद्ध 'आ' उपसर्ग को अङित् कहते हैं। किस अवस्था में कैसा 'आ' होता है इसका विवरण इस प्रकार है—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्॥

अभ्र आ+अपः=अभ्र आँ अपः। आ+उग्रपुत्रे=आँ उग्रपुत्रे। (सप्तमी में अभ्रे, गभीरे)। तुलनीय—ऋक्प्रातिशाख्य (२।६१)।

वेद में 'ईषा अक्षा' इत्यादि कुछ पद हैं जिनमें प्रकृतिभाव स्वयंसिद्ध हैं। जैसे—ईषा अक्षः। 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर ईषाक्षः नहीं हुआ।

'ज्या इयम्'—गुण नहीं हुआ। पूषा अविष्टु—दीर्घ नहीं हुआ। तुलनीय- ऋक्प्रातिशाख्य (२।५८-९)।

(१३९) **स्यश्छन्दसि बहुलम्** (६।१।१३३)। स्य इत्यस्य सोर्लोपः स्याद् हलि। एष स्य भानुः (ऋ० ४।४५।१)।

(१४०) **ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे** (६।१।१५१)। ह्रस्वात्परस्य चन्द्रशब्दस्योत्तरपदस्य सुडागमः स्यान्मन्त्रे। हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः। सुश्चन्द्र दस्म।

वैदिक-भाषा में तत् के साथ-साथ उसी अर्थ और रूप का एक सर्व- त्यत् भी चलता है जिसके पुँल्लिङ्ग एकवचन में 'स्यः' रूप होता है। स्यः बाद यदि हल् (व्यञ्जन) हो तो स्यः के सु का लोप हो जाता है। भी बहुल रूप से—कहीं हो, कहीं नहीं। स्यः + भानुः = स्य भानुः। गच्छति का तो लोक में भी स गच्छति होता है जिसके लिए सूत्र है—एतत्- सुलोपोऽकोरनञ् समासे हलि (६।१।१३२)।

ह्रस्व स्वर से अन्त होने वाले शब्द के बाद यदि चन्द्र शब्द हो तो का आगम (चन्द्र शब्द को) होता है। सुट् में चूँकि ट् की इत्संज्ञा है इसका स्थान चन्द्र के आदि में होगा—'आद्यन्तौ टकितौ' (१।१।४६ हरि + चन्द्रः = हरि + स् + चन्द्रः—स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०) से श् = हरिश्चन्द्रः। सु चन्द्रः = सुश्चन्द्रः। वृत्ति में चन्द्रोत्तरपदे की व्याख्या 'चन्द्रशब्दस्य उत्तरपदस्य' कहा है, अर्थ है कि ह्रस्व के बाद सुट् होता है उत्तरपद में चन्द्रशब्द हो; यह सुट् चन्द्र को ही होता है। संस्कृत में 'हरिश्चन्द्रः' का निपातन पाणिनि ने ऋषि के अर्थ में किया है—प्रस्क- हरिश्चन्द्रावृषी (अष्टा० ६।१।१५३)।

(१४१) **पितरामातरा च छन्दसि** (६।३।३३)। निपातः। आ मा गन्तां पितरामातरा च। चात् विपरीतमपि। मातरापितरा नू चिदिष्टौ।

(क) **समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु** (६।३।८४)। समान- सः स्यान्मूर्धादिभिन्ने उत्तरपदे। सगर्भ्यः।

(ख) छन्दसि स्त्रियां बहुलम् (वा०)। विष्वग्देवयोरद्र्यादेशः (६।३।९२)। विश्वाची च घृताचीं च। देवद्रीचीं नयत देवयन्तः। कद्रीचीं।

वेद में द्वन्द्वसमास में 'पितरामातरा' शब्द की सिद्धि निपातन से होती है। काशिका का कथन है कि इसमें पूर्वपद में अराङ् आदेश (पितृ अराङ्=पतरा) होता है—यही निपातन से हुआ। 'पिता-माता हमारे पास आयें (आगन्ताम्)'। च का प्रयोग बतलाता है कि पितरामातरा के साथ इसका विपरीत मातरा-पितरा भी प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत सूत्र के पूर्व में 'मातरपितरावुदीचाम्' (६।३।३२) सूत्र भी है उसी से 'मातरपितरौ' का 'मातरापितरौ' संशोधित रूप में (प्रस्तुतसूत्र द्वारा) आक्षिप्त होता है। 'अभी माता पिता इष्ट नहीं है।'

यद्यपि सिद्धान्तकौमुदी में 'समानस्य' वाला सूत्र पहले ही आ चुका है तथापि वैदिक व्याकरण मे इसकी आवश्यकता होने से पुनः लिखा गया। वेद में 'समान' शब्द का समास में 'स' आदेश होता है यदि उत्तरपद में मूर्धन्, प्रभृति या उदर्क शब्द को छोड़कर कोई दूसरा पद हो। जैसे—समानः गर्भः सगर्भः। अब 'सगर्भसयूथसनुताद्यन्' (४।४।११४) से 'तत्र भवः' के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है—सगर्भे भवः सगर्भ्यः। मूर्धन् आदि शब्दों के उत्तरपद में होने से समान ही रह जाता है। जैसे—समानमूर्धा। समानप्रभृतयः। समानोदर्काः।

लोक में विष्वक्, देव तथा सर्वनाम-शब्दों के टि (अन्तिम स्वर से आरम्भ होनेवाला वर्णसमूह)—अंश को अद्रि आदेश होता है यदि उत्तर पद में वप्रत्ययान्त अञ्च धातु हो। वप्रत्ययान्त का अभिप्राय है क्विन् या क्विप् प्रत्यय से अन्त होनेवाला। जैसे—विष्वक्+√अञ्च्+क्विन्=विष्वद्र्यङ्। देवद्र्यङ्। स्त्री०—देवद्रीची। तद्रीची आदि। लेकिन वेद में स्त्रीलिङ्ग में यह अद्रि आदेश बहुल-रूप से होता है। जैसे—विश्वम् अञ्चति इति—विश्व+अञ्च्+क्विन् (क्विन् का सर्वापहारीलोप—'हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते, वेरपृक्तस्य')=विश्व+अञ्च् ('अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' ने नुम्—अञ्च के न्—का लोप)=विश्व+अच्+स्त्रीलिङ्ग का ङीप् ('उगितश्च' से)=

(अचः ६।४।१३८ से अच् का अलोप तथा चौ ६।३।१३८ से दीर्घ)—विश्वाची। उसी तरह घृतमञ्चति=घृताची। इन दोनों उदाहरणों में अद्रि आदेश नहीं हुआ है किन्तु देवद्रीची और कद्रीची शब्दों में हो गया है। देवमञ्चतीति—देव+अञ्च्+क्विन्=(अद्रि आदेश) देव+अद्रि+अच्+ङीप्=(अलोप, दीर्घ) देवद्रीच् ई=देवद्रीची। कुत्सितमञ्चतीति—किम्+अञ्च्+क्विन्=किम् का 'इम्' अद्रि में बदल गया तथा ङीप् लगाकर, अलोप दीर्घ आदि करके—कद्रीची। इस प्रकार वेद में अद्रि आदेश बहुल-रूप से होता है यदि स्त्रीलिङ्ग विवक्षित हो।

(१४२) **सधमादस्थयोश्छन्दसि** (६।३।९६)। सहस्य सधादेशः स्यात् मादस्थयोः परतः। इन्द्र त्वास्मिन्सधमादे। सोमः सधस्थम्॥

(१४३) **पथि च छन्दसि** (६।३।१०८) पथिशब्दे उत्तरपदे कोः कवं कादेशश्च। कवपथः। कापथः। कुपथः।

वैदिक-भाषा में सह के स्थान में सध आदेश होता है यदि उत्तरपद में माद या स्थ शब्द हों जैसे—सधमादः (सह माद्यन्ति अस्मिन्=सहभोज) हे इन्द्र, तुम्हें इस सहभोज में हम बुलाते हैं। सधस्थम् (साथ रहने की जगह—सभाभवन)। सधमादः का कुछ लोग यज्ञ अर्थ लेते हैं।

पथ शब्द के उत्तरपद में रहने पर कु को कव और का आदेश होता है जिससे कवपथः, कापथः और कुपथः शब्द बनते हैं। अर्थ है कुत्सितः पन्थाः 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५।४।७४) से पथिन्-शब्द में अ-प्रत्यय लगता है।

(१४४) **साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे** (६।३।११३)। सहेः क्त्वाप्रत्यये आद्यं द्वयं, तृनि तृतीयं निपात्यते। मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा। अचोर्मध्यस्थस्य डस्य ळः ढस्य ळ्हश्च प्रातिशाख्ये विहितः। आह हि—

> द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
> ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः॥
> (ऋ० प्राति० ११५२)

वेद में साढ्यै, साढ्वा तथा साढा ये तीन शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। सह धातु (सहना) से क्त्वा प्रत्यय करने पर प्रथम दोनों की सिद्धि

होती है—सह् धातु के बाद क्त्वा के स्थान में निपातन से ध्यै हो जाना। अब सह् + ध्यै। 'हो ढः' से ह् के स्थान में ढ होकर सढ् + ध्यै = 'ष्टुना ष्टुः' से सढ् + ढ्यै = 'ढो ढे लोपः' से एक ढ का लोप तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' द्वारा स के अ का आ (दीर्घ) = साढ्यै। उसी प्रकार सह् + क्त्वा = साढ्वा। 'साढा' की सिद्धि तृन् प्रत्यय से होती है—सह् + तृन् = 'हो ढः' से ढकार; 'झषस्तथोर्धोऽधः' से तृ को धृ और 'ष्टुना ष्टुः' से ढृ = सढ् + ढृ = साढृ (ढो ढे लोपः, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः)। प्रथमा एकवचन में साढा = सहने वाला, विजेता। 'मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा' = मरुतों के साथ वह कठोर (रुद्र) जो सेनाओं में विजेता है। संस्कृत-भाषा में सह् और वह् धातुओं के अकार का ओकार हो जाता है—सहिवहोरोदवर्णस्य (६।३।११२), यदि ढ् का लोप हो जाये। इसीलिए क्त्वा-प्रत्यय लगने पर सोढ्वा और तृच् लगने पर 'सोढा' रूप बनते हैं। इसी सूत्र के अपवाद के रूप में वैदिक भाषा से सम्बद्ध यह सूत्र आया है।

यहाँ पर ढ के स्थान में ळ्ह लिखा गया है वह प्रातिशाख्य (शिक्षा-ग्रन्थ) के नियमों के अनुरूप है क्योंकि प्रातिशाख्य में कहा गया है कि स्वरों के बीच ड का ळ तथा ढ का ळ्ह हो जाता है। उक्ति भी है—'दो स्वरों के बीच में जाकर डकार ळकार बन जाता है। ऐसा होने पर ढकार ळ्हकार बन जाता है जब कि ळ् का प्रयोग ऊष्म वर्ण (ह) के साथ होता है।' इसके उदाहरण वेद में सर्वत्र हैं जैसे अग्निमीळे (ई तथा ए के बीच ड का ळ), किन्तु ऋषिभिरीड्यः (एक ओर ई है, दूसरी ओर य)। मीळ्हुषे (मीढुषे)—ई और उ के बीच। किन्तु मीढ्वान्।

वैदिक भाषा की यह प्रवृत्ति आधुनिक-आर्य-भाषाओं में भी व्याप्त है, यद्यपि उसका उच्चारण वैदिक-उच्चारण के अनुरूप नहीं होता है। उदाहरण स्वरूप सड़क, पेड़, बड़ा, सीढ़ी आदि शब्दों में ड ढ का उच्चारण शुद्ध ड् ढ् का नहीं, कुछ संघर्षी (Fricative) हो गया है क्योंकि ड, ढ दो स्वरों के बीच में पड़ जाते हैं। किन्तु डमरू, ढाल आदि शब्दों में शुद्ध उच्चारण ही होता है क्योंकि यहाँ पर ये ध्वनियाँ (ड ढ) स्वरों के बीच नहीं आतीं। वस्तुतः लोक की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि वह ड और ढ का स्वरों के बीच में

शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाता। संस्कृत में भी सामान्यतया क्रीडा, रूढि आदि शब्दों का सावधानी से भी उच्चारण करने पर संघर्षी ध्वनि बोल देते हैं कितने लोग तो भ्रम में नीचे विन्दु देकर लिखते भी हैं। भाषा की यह प्रवृत्ति ऋग्वेद काल में ही जान ली गई थी जिससे दोनों ध्वनियों के उच्चारण में इतना अन्तर रखा गया। मराठी में यह सर्वाधिक स्पष्ट है।

(१४५) **छन्दसि च (६।३।१२६)**। अष्टन आत्वं स्यादुत्तरपदे। अ॒ष्टाप॑दी।

(१४६) **मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (६।३।१३१)**। दीर्घः स्यान्मन्त्रे। अ॒श्वा॒व॒तीं सौमा॒व॒तीम् (ऋ० १०।९७।७)। इ॒न्द्रि॒याव॑न्म॒दिन्त॑मः। वि॒श्वकर्म॑णा वि॒श्वदे॑व्यावता॥

(१४७) **ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् (६।३।१३२)**। दीर्घः स्यान्मन्त्रे। यदोष॑धीभ्यः। अ॒द॒धा॒त्योष॑धीषु।

वेद में अष्टन्-शब्द को आकार आदेश होता है यदि कोई शब्द बाद में (उत्तरपद में) हो। जैसे अष्टौ पादा अस्या इति (अष्टन् जस्+पाद जस्) अष्टापदी (ऋचा)। 'संख्यासुपूर्वस्य' (५।४।१४०) सूत्र के द्वारा पाद के अ का लोप तथा 'पादोऽन्यतरस्याम्' (४।१।८) से वैकल्पिक ङीप् (स्त्रीलिङ्ग) प्रत्यय हुआ। अन्य उदाहरण हैं—अष्टाकपालम्। अष्टाहिरण्यम्। स्मरणीय है कि 'अष्टनः संज्ञायाम्' (६।३।१३१) सूत्र के अनुसार लौकिक संस्कृत में संज्ञा (नाम) अर्थ होने पर ही अष्टन् को आकार-आदेश होता है जैसे—अष्टावक्रः। अष्टापदः।

मन्त्र में सोम, अश्व, इन्द्रिय और विश्वदेव्य शब्दों के अन्तिम वर्ण को दीर्घ हो जाता है यदि बाद में मतुप्-प्रत्यय जुड़ रहा हो। ये सभी शब्द अकारान्त हैं—आकार-आदेश होगा ही, साथ-साथ मतुप् के म् को व हो जायगा (सूत्र—मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९)। अश्व+मतुप्+ङीप् (उगितश्च ४।१।६)=अश्वावती। सोम से उसी प्रकार—सोमावती (लोक में सोमवती अमावास्या)। इन्द्रिय+मतुप्=इन्द्रियावान् (मदिन्=मद+इन्=मतवाला—उनमें सबसे अधिक मतवाला—मदिन्तमः, लोक में मदितमः)। विश्वदेव्य+मतुप्=विश्वदेव्यावान्, तृतीया में विश्व

देव्यावता (विश्वदेव्य से सम्मिलित सभी कर्मों द्वारा)। सिद्धान्तकौमुदी के आधुनिक टीकाकार (शारदारञ्जन राय और सुबोधिनीकार जयकृष्ण पण्डित) विश्वदेव्य को दो शब्द मानते हैं। राय तो स्पष्ट लिखते हैं—'पञ्चानां शब्दानामन्त्यस्वरस्य दीर्घः स्यात्' विश्व और देव्य को पृथक् मानने पर ही पाँच शब्द होते हैं। लेकिन यह उन लोगों का भ्रम है। वेद में भले ही उदाहरण मिल जायँ, पर सूत्रकार का यह अभीष्ट नहीं रहा होगा। कौमुदी के उदाहरण में तो 'विश्वदेव्यावता' है हाँ, काशिका में भी 'विश्वदेव्यावती' उदाहरण है जिससे दोनों ग्रन्थकार विश्वदेव्य को एक शब्द मानते प्रतीत होते हैं।

ओषधि शब्द के बाद यदि प्रथमा को छोड़ कर कोई अन्य विभक्ति आ रही हो तो इसके अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है। उदाहरण—यद् ओषधीभ्यः। अदधाति ओषधीषु। एक वार्तिक है—'कृदिकारादक्तिनः' जिसका अर्थ है कि इकारान्त कृत्प्रत्यय (क्तिन् को छोड़कर) से अन्त होने वाले शब्दों में ङीष् प्रत्यय होता है। ओषधि में भी ओष + √धा + कि प्रत्यय होने के कारण ङीष् प्रत्यय हो सकता है। वैसी दशा में प्रस्तुत सूत्र व्यर्थ हो जायगा, लेकिन ऐसी बात नहीं। ङीष् करने पर शब्द अन्तोदात्त हो जायगा लेकिन 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वचो गुरुः' (फि० सू० ४२) इस फिट्सूत्र के द्वारा इसे आद्युदात्त करना अभीष्ट है। अतः सूत्र व्यर्थ नहीं है।

(१४८) ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (६।३।१३३)। दीर्घः स्यात्। आ तू नं इन्द्र (ऋ० ३।४१।१; ४।३२।१)। नू मर्तः। उत वा घा स्यालात्। मक्षू गोमन्तमीमहे। भरता जातवेदसम् तङिति थादेशस्य ङित्त्वपक्षे ग्रहणम्। तेनेह न—शृणोत ग्रावाणः। कूमनाः। अत्रा ते भद्रा। यत्रा नश्चक्रा (ऋ० १।८९।९)। उरुष्या णः (ऋ० १।९१।१५)।

ऋग्वेद में निम्नलिखित शब्दों के अन्तिम वर्ण को दीर्घ हो जाता है—तु (तो), नु (अभी), घ (निश्चयार्थक अव्यय), मक्षु (शीघ्र), तङ् (लोट् मध्यमपुरुष बहु० का प्रत्यय), कु (बुरा), त्र (त्रल्-प्रत्यय, स्थानवाचक) तथा उरुष्य (रक्षा करना)। उदाहरण—(१) तु—आतू न इन्द्र वृत्रहन्।

(२) नु—नू मर्त्यः । (३) घ—उत वा घा स्यालात् (साले से) । (४) मक्षु—मक्षू गोमन्तमीमहे (गो—धन—देनेवाले से हम शीघ्र याचना करते हैं)। (५) तङ्=लोट् लकार में थ (मध्यमपुरुष बहुवचन) का त आदेश हो जाता है—तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०४)। लोट् में होने पर थ के आदेश त को ङित् मानते हैं क्योंकि सार्वधातुकमपित् (१।२।४) सूत्र ङित् का अतिदेश करता है। भृ+लोट्+त=भरत—दीर्घ होने से 'भरता'। यहाँ पर चूँकि 'तङ्' (ङित्) से बने हुए क्रियापद को ही दीर्घ होने का विधान है अतः 'शृणोत' को दीर्घ नहीं हो सकता क्योंकि वह (शृणोत) पित्-प्रत्यय (तप्) से बना है जिसके लिए सूत्र है—'तप्तनप्तनथनाश्च' (देखें इसकी व्याख्या वैदिकी प्रक्रिया में, सूत्र—७।१।४५)—श्रु+लोट् तप् (वैदिक प्रत्यय) =शृणोत (लोक में ङित् होने से—शृणुत)। भरता जातवेदसम्=जातवेदस् को हव्य दें। (६) कु—कू मनाः=कुत्सित मन वाला। (७) त्र—स्थानवाचक त्रल् प्रत्यय से बने शब्द—'अत्र' से 'अत्रा ते भद्राः'—तुम्हारे कल्याण यहाँ हैं। यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। (८) उरुष्य=रक्षा करो, कण्ड्वादि धातु। लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में सिप् से 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) द्वारा हि और हि का अकारान्त धातु 'उरुष्य' के बाद 'अतो हेः' (६।४।१०५) से लोप। उरुष्या (दीर्घ) नः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) से णत्व—उरुष्या णः (हमें बचाओ)।

(१४९) **इकः सुञि** (६।३।१३४)। ऋचि दीर्घ इत्येव। अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३)। 'सुञः' (८।३।१०७) इति षः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) इति णः।

(१५०) **द्व्यचोऽतस्तिङः** (६।३।१३५)। मन्त्रे दीर्घः। विद्मा हि (ऋ० १।१०।१०)। चक्रा जरसम् (ऋ० १।८९।९)।

ऋग्वेद में किसी शब्द के अन्तिम में यदि इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) रहे तथा बाद में सुञ् (सु अव्यय) रहे तो पूर्व शब्द के अन्तिम वर्ण को दीर्घ हो जाता है। जैसे—अभि सु नः=अभी षु णः। 'सुञः' सूत्र से स को ष हो गया (जिसका अभिप्राय है—षत्व के निमित्त के बाद यदि सुञ् अव्यय का स हो

तो उसको भी मूर्धन्यादेश-हो जाता है)। षु के बाद न को ण हो गया जिसके लिए 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' सूत्र है।

ऋग्वेद में यदि कोई तिङन्त शब्द दो स्वरों का हो तथा अकारान्त हो तो उसके अन्त्य वर्ण (अकार) को दीर्घ हो जाता है—√विद्+लट् (मस्)—मस् का 'विदो लटो वा' (३।४।८३) से वैकल्पिक म होना=विद्म, दीर्घ होकर विद्मा। √कृ+लिट् (अ) मध्य० बहु०=चक्रा। दो अच् वाला धातु नहीं हो तो दीर्घ नहीं होगा जैसे—देवा भवत वाजिनः। उसी प्रकार अकारान्त धातु होना भी अनिवार्य है अन्यथा—आ देवान् वक्षि यक्षि च; यहाँ दीर्घ नहीं हुआ। छान्दस दीर्घ की यह व्यवस्था संहिता-पाठ में छन्द के प्रवाह के अनुरोध से की जाती है। पद-पाठ में दीर्घरूप नहीं रहते—विद्म, चक्र रूप ही रहते हैं।

(१५१) **निपातस्य च** (६।३।१३६)। एवा हि ते।

(क) **अन्येषामपि दृश्यते** (६।३।१३७)। अन्येषामपि पूर्वपद-स्थानां दीर्घः स्यात्। पूरुषः। दण्डादण्डि।

दो स्वर वाले निपात (च आदि) को भी दीर्घ होता है जैसे—एव का एवा। ऐसी व्यवस्था (दीर्घ होने की) केवल संहिता-पाठ में ही है, पदपाठ में तो 'एव हि' इसी प्रकार पढ़ना पड़ेगा।

अन्य पदों में भी (जो दो स्वर वाले नहीं हैं वहाँ भी) पूर्व पद में स्थित वर्ण को दीर्घ होता है जैसे—पुरुषः से पूरुषः। लौकिक भाषा में भी दोनों प्रकार के शब्द हैं—पुरुषः, पूरुषः, उसी तरह दण्डादण्डि—'तत्र तेनेदम् इति सरूपे' (२।२।२७) सूत्र से बहुव्रीहि समास हो गया। दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम्—दण्डादण्डि 'इच् कर्मव्यतिहारे' (५।४।१२७) से इच् प्रत्यय (समासान्त)। इसी तरह केशाकेशि, छत्राछत्रि। इन मुहावरेदार शब्दों की सत्ता बतलाती है कि संस्कृत कभी लोकभाषा थी जो जन-सामान्य में प्रयुक्त होती थी। पदपाठ में ऐसे दीर्घ होने वाले पदों को ह्रस्व रूप ही होता है।

(१५२) **छन्दस्युभयथा** (६।४।५)। नामि दीर्घो वा। धातॄणाम्—इति बह्वृचाः। तैत्तिरीयास्तु ह्रस्वमेव पठन्ति।

(१५३) वा षपूर्वस्य निगमे (६।४।९)। षपूर्वस्याच उपधाया वा दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। ऋभुक्षाणम्। ऋभुक्षणम् (ऋ० १।१११।४)। निगमे किम् ? तक्षा। तक्षाणौ।

लोक में 'तिसृ और चतसृ' को छोड़ कर अन्य शब्दों के बाद जब नाम् (= 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट् के साथ षष्ठी बहुवचन का आम्) लगता है तो अंग को दीर्घ हो जाता है जैसे अग्नीनाम्। वायूनाम्। पितॄणाम् आदि। किन्तु वेद में कहीं दीर्घ होता है, कहीं नहीं। जैसे बह्वृच-शाखा के अनुसार 'धातृ' शब्द से धातृणाम् होता है जब कि तैत्तिरीय (कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा) लोग धातॄणाम् ही पढ़ते हैं। काशिका में इस सूत्र में केवल तिसृ-चतसृ की अनुवृत्ति मानी गई है जिससे केवल इन दोनों शब्दों से ही नाम् होने पर वैकल्पिक दीर्घ हो। कौमुदीकार स्पष्ट रूप से अधिक व्यापक हैं क्योंकि सभी शब्दों को दीर्घ-विकल्प होने की योग्यता देते हैं। इस मतभेद को शब्देन्दुशेखर में ठीक अङ्कित किया गया है कि वृत्तिकार ने जो तिसृ-चतसृ की अनुवृत्ति मानी है वह अयुक्त है।

लोक में जिस शब्द के अन्त में नकार हो (जैसे राजन्, सामन्) उसके सर्वनाम स्थान के रूप में (सुडनपुंसकस्य, शि सर्वनामस्थानम्; शि=जश्शसोः शि) संबुद्धि को छोड़ कर, शब्द की उपधा को दीर्घ हो जाता है—'सर्वनाम-स्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८)। अब वेद में कुछ विशेषता है कि नकारान्त शब्द की उपधा (जो निश्चित रूप से स्वर होगी) के पूर्व यदि ष् वर्ण हो तो सम्बुद्धि (संबोधन का एकवचन) छोड़ कर अन्य सर्वनामस्थानों में विकल्प से दीर्घ होता है। एक शब्द लें—ऋभुक्षिन्, 'इतोत्सर्वनामस्थाने' ७।१।८६ से उपधा के इ को अ हो जायगा तथा रूप होगा ऋभुक्षन्—यहाँ अन्त में न् है, उपधा में अ, जिसके पूर्व क्+ष्=क्ष् में ष् है। अब इसमें द्वितीया एक-वचन का अम् प्रत्यय लगा दें। अम् सर्वनामस्थान है। सर्वनामस्थान में निम्न-लिखित प्रत्यय आते हैं—सु, औ, जस्, अम्, औट् (स्त्रीलिंग+पुंल्लिग के) तथा नपुंसकलिंग के जस् और शस् (जिन्हें शि भी कहा जाता है)। अब प्रस्तुत सूत्र के अनुसार इसमें उपधा को वैकल्पिक दीर्घ होगा—ऋभुक्षणम् (दीर्घ न होने पर) तथा ऋभुक्षाणम् (दीर्घ होने पर)। 'प्रातिपदिकान्त-

नुम्विभक्तिषु च' (८।४।११) से इसमें ण् होता है। ऋभुषा=इन्द्र। निगम का अर्थ है वेद। यदि लौकिक भाषा की बात हो तो दीर्घ ही होगा जैसे—तक्षा, तक्षाणौ। सम्बुद्धि में भी ह्रस्व ही होगा—ऋभुक्षन्।

(१५४) जनिता मन्त्रे (६।४।५३)। इडादौ तृचि णिलोपो निपात्यते। यो नः पिता जनिता (ऋ० १०।८२।३)।

(१५५) शमिता यज्ञे (६।४।५४)। शमयितेत्यर्थः।

वेद में जनिता शब्द निपातन से सिद्ध माना जाता है जब कि जन् धातु में इट् के साथ तृच् लगने पर णिच् प्रत्यय का लोप हो जाता है। जन्+णिच्+इट्+तृच्=(णिच् का लोप) जन्+इट्+तृच्=जनितृ, प्रथमा एक० जनिता। लोक में णिच् का लोप नहीं होता—जन्+इ (णिच् के ण् और च् के लुप्त हो जाने पर)+इट्+तृ=जनि ('अत उपधायाः' से णित् होने पर भी वृद्धि नहीं हुई, क्योंकि 'जनिवध्योश्च से इसे रोका जाता है)+इट्+तृच्। अब 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण होगा—जने+इट्+तृच्=जन् अय्+इ+तृ (अयादेश से)=जनयितृ, प्रथमा-जनयिता। वेद में जनिता शब्द का प्रयोग होता है, उसे सिद्ध करने के लिए णिच् लोप का निपातन जाता है। 'जो हमारा पालक, जन्मदाता है।'

यज्ञ का विषय होने पर शमिता शब्द भी उपर्युक्त विधि से ही निपातित होता है। शम्+णिच्+इट्+तृच्—णिलोप हो कर शमिता। लोक में णि रहने पर 'मितां ह्रस्वः' से उपधा का ह्रस्व हो कर 'शमयिता' बनता है। शमयिता=शान्त करने वाला।

(१५६) युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि (६।४।५८)। ल्यपीत्यनुवर्तते। वियूय, विप्लूय।

(१५७) आडजादीनाम् (६।४।७२)। छन्दस्यपि दृश्यते (६।४।७३)—अनजादीनामित्यर्थः। आनट्। आवः।

वेद में √यु (मिलाना) और √प्लु (उछलना)—इन दो धातुओं के बाद ल्यप् प्रत्यय लगने पर इन धातुओं को दीर्घ हो जाता है। यह स्मरणीय है कि ल्यप् प्रत्यय धातु में तभी लगता है जब धातु के पूर्व कोई उपसर्ग हो—'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७)। वि+यु+ल्यप्=वियूय। विप्लूय।

लोक में ह्रस्वान्त धातु के बाद पित् (ल्यप्, क्यप् आदि) प्रत्यय लगने पर तुक् का आगम होने से ('ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'. ६।१।७१) वियुत्य और विप्लुत्य ऐसे रूप होंगे ।

लौकिक भाषा में लुङ्, लङ्, लृङ् लकारों में हलादि धातु के पूर्व अट् और अजादि धातु के पूर्व आट् का आगम होता है—वेद में भी आट् का प्रयोग अजादि के लिए होता ही है, हलादि के लिए भी होता है । नश् और वृ धातुओं के प्रारम्भ में व्यञ्जन है फिर भी आट् का आगम हो गया है—आट्+नश् लुङ् त् (तिप् का)=आ नश् (लुङ् के च्लि का लोप—'मन्त्रे घसह्वरणश०') त्=अब 'नशेर्वा' (८।२।६३) के अनुसार विकल्प से नश् के श् का क् होता है वह यहाँ नहीं लगा, अतः 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' (८।२।३६) के अनुसार नष् हो गया—आ नष् त्=('हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' से त् का लोप तथा 'झलां जशोऽन्ते' से ष् का ड्) आनड्, अब 'वाऽवसाने' सूत्र से आनट् (ड् का चर् में परिवर्तन)। वृ धातु से आट् करने पर—आट् वृ लुङ् त्—मन्त्रे घसह्वर० से च्लि-लोप, हल्ङ्याप्० से त्-लोप, सार्वधातुक गुण, उरण्रपरः से रपर-आवर्=खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग—आवः । उसी तरह के उदाहरणों में 'आप्रा' (पूरा किया) भी है ।

(१५८) न माङ्योगे (६।४।७४)। **बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि** (६।४।७५)। अडाटौ न स्तः, माङ्योगेऽपि स्तः। जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय (ऋ० १०।७३।१)। मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः।

लौकिक-भाषा में लुङ्, लङ्, लृङ् में लगने वाला अट् या आट्, वाक्य में माङ् (मा=मत) अव्यय के रहने पर नहीं प्रयुक्त होता है लेकिन वेद में माङ् के नहीं रहने पर भी (सामान्य स्थिति में ही) नहीं लगता; यही नहीं, माङ् के रहने पर भी लग जाता है । इस प्रकार वैदिक-विधि लौकिक-नियम के प्रतिकूल है । (१) पहले नियम (अ-माङ् योग में नहीं होने) का उदाहरण—जनिष्ठाः उग्रः सहसे तुराय=तुम शीघ्र बल प्रदर्शन के लिए भयंकर बने हो (उत्पन्न हो)। यहाँ 'मा का प्रयोग नहीं है फिर जनिष्ठाः (जन्+लुङ्

थास्-इट् तथा सिच् का योग) में अट् नहीं लगा जबकि सामान्य-नियम से यहाँ 'अजनिष्ठाः' होना चाहिए।

(२) दूसरे नियम का उदाहरण (माङ्-योग में अट् आट् का लगना)— 'अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः।' (सावधानी से इस सन्तानोत्पादिनी शक्ति—वीर्य की रक्षा करो, तुम्हारे क्षेत्र—पत्नी में दूसरों के बीज न बोये जायँ।) ब्रह्मचर्य के व्रत का पालन करो, ब्रह्मचर्य के क्षीण होने से तुम्हारी पत्नी दूसरे पति से रमण की कामना करेगी तथा परबीज का वपन होगा ही—यह वैदिक-युवकों को दिया गया ब्रह्मचर्य का उपदेश है। यहाँ 'मा' का प्रयोग है तथा क्रिया है 'अवाप्सुः' (वप्+लुङ् झि (जुस्)—सिच् का योग और 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि तथा अट् होकर—अ वाप् स् उस्=अवाप्सुः)। मा के होने पर नियमतः अट् का लोप होना चाहिए—यहाँ हो ही गया। कौमुदी के टीकाकार लोग कहते हैं कि काशिका के अनुरोध से ही 'अवाप्सुः' पाठ दिया है नहीं तो कौमुदी का पाठ 'वाप्सुः' ही है। ऐसी दशा में 'मा वाप्सुः' लौकिक-नियम के अनुसार हो गया फिर वैदिक-प्रक्रिया की आवश्यकता ही क्या ? वेद में लोक के अनुसार भी सारी क्रियायें होती हैं इसमें कोई सन्देह नहीं पर उसकी विशेष-विधियों और उदाहरणों को भी तो दिखाना है। दूसरे, मूलग्रन्थ में 'माङ्योगेऽपि स्तः' इसका उदाहरण तो दिखाना चाहिए—अतः 'अवाप्सुः' पाठ रखने में काशिका का अनुकरण भले ही करना पड़े—यही पाठ सम्यक् है।

(१५९) इरयो रे (६।४।७६)। प्रथमं दध्र आपः (ऋ० १०। ८२।५) रेभावस्य आभीयत्वेन असिद्धत्वादालोपः। अत्र रेशब्दस्येटि कृते पुनरपि रेभावस्तदर्थं च सूत्रे द्विवचनान्तं निर्दिष्टमिरयोरिति ॥

प्रस्तुत सूत्र का दो तरह से विच्छेद हो सकता है—(१) इरे+षष्ठी एक वचन का ङस्=इरयः+रे=इरयो रे, 'हशि च' से विसर्ग का उ। अर्थ होगा—इरे के स्थान में रे हो जाना। (२) इरे+षष्ठी द्वि० व. का ओस्=इरयोः+रे=इरयो रे, 'रो रि' से विसर्ग (र्) का लोप। अर्थ होगा—दोनों प्रकार के इरे के स्थान में रे हो जाना।

लिट् लकार के आत्मनेपद में झ (प्रथम पुरुष बहुवचन) के स्थान में इरे (इरे) आदेश होता है (लिटस्तझयोरेशिरेच् ३।४।८१)। इस इरे आदेश को वेद में रे हो जाता है जैसे √धा + इरे—द्वित्व तथा उसका जश्त्व होकर दा + धा + इरे—'ह्रस्वः' से अभ्यास का ह्रस्व दधा + इरे। 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से आकार लोप, रे हो जाना—दध्रे। जल ने पहले (गर्भ) धारण किया। संस्कृत भाषा में—दधिरे।

अब हम सूत्र की कठिनाइयों में चलें। 'दधा इरे' हो जाने पर एक समस्या उठ खड़ी होती है। 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) के अनुसार तो इरे के पूर्व धा के आकार का लोप होना चाहिए, दूसरी ओर 'इरयो रे' (६।४।७६) के अनुसार इरे रहेगा ही नहीं, रे हो जायगा तो आकार का लोप होगा कैसे? आकार का लोप तभी होता है जब बाद में अजादि आर्ध-धातुक प्रत्यय हो। ऐसी दशा में दोनों नियमों में केवल एक ही नियम लग सकता है; या तो आलोप होकर 'दधिरे' (जैसा कि लोक में होता भी है) होगा या रे-भाव होकर दधारे। अब 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' के अनुसार दूसरा नियम ही कार्य माना जायगा और दधारे बन जायगा। परन्तु बिना आकार लोप हुए दध्रे बनेगा ही नहीं, इसीलिए दीक्षित जी को 'रेभावस्य आभीयत्वेन' इत्यादि लिखना पड़ा।

षष्ठ अध्याय के चतुर्थपाद में एक सूत्र है—असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) जिसका अधिकार 'भस्य' (६।४।१२९) तक चलता है। इन दोनों सूत्रों के बीच होने वाले कार्य आभीय-कार्य कहलाते हैं तथा इसमें कहे हुए कार्य एक में होने से असिद्ध के समान हो जाते हैं (समानाश्रयत्वात् तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धम्) अतः 'आतो लोप इटि च' सूत्र के लग जाने से 'इरयो रे' का कार्य (रेभाव) असिद्ध हो जायगा क्योंकि यह बाद में है। ऐसी दशा में 'दधा + इरे' को दध् इरे ऐसा होकर (लोक में तो यही रूप है) वेद में दध् रे (दध्रे) बन जायगा। कहने का अभिप्राय यह है कि इरे का रेभाव केवल धा के आकार को लुप्त करने के लिए असिद्ध माना गया।

फिर भी समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हुआ। रे को फिर तो कहीं इट् (आर्धधातुकस्य इट् वलादेः ७।२।३५) लग सकता है—हर जगह तो

असिद्ध ही नहीं होगा। लिट् लकार में कुछ धातु हैं जो इट् नहीं लेते—इनकी गणना 'कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि' ७।२।१३ इस सूत्र में की गई है। इसकी वृत्ति में काशिका कहती है—सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः। क्रादय एव लिटि अनिटः ततोऽन्ये सेट् इति। अर्थात् कृ आदि धातुओं को छोड़कर अन्य धातु सेट् हैं। अभी √धा की बात चल रही थी, वह तो सेट् होगा तथा 'दध् (आलोप के बाद भी) + (इट्) + रे' बन जायगा तथा 'दधिरे' की ही सिद्धि होगी, दध्रे की नहीं !! दीक्षित जी विगड़ खड़े हुए और बोले—अरे भाई, रे के पूर्व यदि इट् आ जाय तो फल क्या होगा ? इरे ही न, कि और कुछ ? तो फिर इस इरे को भी रे-आदेश हो जायगा, दध् + इरे = दध् + रे = दध्रे। पाणिनि तो स्पष्ट कह रहे हैं इरयोः अर्थात् दोनों प्रकार के इरे (इरेच् तथा इट् + रे) के स्थान में रे हो जायगा।

फल यह हुआ कि इरेच् के स्थान में रे तथा उक्त प्रकार से रे होनेपर यदि इट् आकर पुनः इरे कर दे तो उसका भी रे हो जाता है—किसी भी तरह दध्रे ठीक है, जब कि लोक में दधिरे होता है।

अब एक छोटी समस्या सुबोधिनी में उठायी गई है—'इरे' लिट् प्रथम-पुरुष का बहुवचन है तथा प्रतिपदोक्त-पद है जब कि इट् + रे लाक्षणिक पद है, लक्षण से समझा जाता है, मुख्य नहीं है। एक परिभाषा है—'लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' जिसके अनुसार प्रतिपदोक्त शब्द इरे को ही रे हो सकता है परन्तु पाणिनि का द्विवचनान्त प्रयोग (इरयोः) इस परिभाषा को अनित्य सिद्ध कर देता है, अतः उपर्युक्त व्याख्या बिल्कुल ठीक है।

(१६०) छन्दस्युभयथा (३।४।८६)। भूसुधियोर्यण् स्यात्, इयङ् उवङौ च। वनेषु चित्रं विभ्वम्। विभुवं वा। सुध्यो३ हव्यमग्ने। सुधियो वा।

(क) तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् (वा०)। तन्वं पुषेम। तनुवं वा। त्र्यम्बकम्। त्रियम्बकं वा।

लौकिक-भाषा में भू और सुधी शब्दों का, सुप् विभक्ति लगने पर, यण् आदेश नहीं होता, इयङ्-उवङ् आदेश होता है। चूंकि ये आदेश ङित् हैं अतः

'ङिच्च' सूत्र के अनुसार ये अन्तिम वर्ण को हटाकर लगेंगे जैसे—भू (उवङ्) +अम् (द्वितीया एक०)=भुव् अम्=भुवम् । उसी तरह सुधियम् । लेकिन वेद में दोनों प्रकार के आदेश—यण् और इयङ्-उवङ्—होते हैं । विभु (वि+ √भू+डु=विभु)+अम्='इको यणचि' से सन्धि होकर विभ्वम् । उवङ् होने से विभुवम् । सुधी+जस् (प्रथमा बहु०)=(यणादेश) सुधी+अस्= सुध्यः । इयङ् आदेश में सुधियः । यह वैदिक-भाषा की विचित्रता का स्पष्ट उदाहरण है ।

तनु आदि शब्दों के रूप की सिद्धि में यण् तथा इयङ्, उवङ् आदेश दोनों काम में आते हैं—जहाँ जैसा रूप देखा उसे उसी रूप में समर्थित कर दिया। 'तन्वम्' शब्द की सिद्धि में यण् को लायें—तनु+अम्—'इको यणचि' से तन्वम् । 'तनुवम्' शब्द की सिद्धि में उवङ् आदेश को खड़ा कर दें—तनु (उवङ्)+अम्=तनुव्+अम्=तनुवम् । संस्कृत में 'अमि पूर्वः' (६।१। १०७) के अनुसार तनु+अम् में पूर्वरूप—एकादेश होकर तनुम् रूप ही बनेगा । त्र्यम्बकम् की सिद्धि में त्रि+अम्बकम् कर के यण् कर दें । त्रियम्बकम् की सिद्धि में इयङ् का प्रयोग करें—त्रि (इयङ्)+अम्बकम्=त्रिय् अम्बकम्=त्रियम्बकम् । लोक में केवल 'त्र्यम्बकम्' रूप होगा । वेद में बहुधा य्, र् से मिलनेवाले वर्णों का उच्चारण स्वरभक्ति (Anaptyxis) द्वारा होता है, बीच में स्वर का उच्चारण कर देते हैं—वरेण्यम्-वरेणियम्, त्र्यम्बकम्–त्रियम्बकम्, रुद्रः–रुद्रः, भद्रं–भद्रम्, सुध्यः–सुधियः । इन उच्चारणों को जीवित रूप देने के लिए दोनों प्रकार के रूप दिये गये । कालिदास कुमारसंभव (३।४४) में 'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श' द्वारा वैदिक उच्चारण के वशीभूत प्रतीत होते हैं, उनके अन्य प्रयोग भी वैदिक-व्याकरण से सिद्ध होते हैं अतः उनका आविर्भाव ऐसे काल में हुआ होगा, जब वैदिक-व्याकरण के अनुरूप प्रयोग करना असाधु नहीं माना जाता होगा ।

(१६१) तनिपत्योश्छन्दसि (६।४।९९) । एनयोरुपधालोपः क्ङिति प्रत्यये । वितत्निरे कवयः । शकुना इव पप्तिम । भाषायां वितेनिरे, पेतिम ।

वेद में √तन् (फैलना) और √पत् (गिरना) धातुओं की उपधा का

लोप हो जाता है यदि इनके बाद कोई अजादि (स्वर से आरम्भ होनेवाला) क्वित् या ङित् प्रत्यय हो। जैसे—वि तन्+लिट् झ। लिट् को यहाँ कित् माना जाता है (असंयोगाल्लिट् कित् १।२।५)। झ के स्थान में 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से इरेच् आदेश तथा धातु का अभ्यास 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (लिट् लकार में अनभ्यस्त धातु को द्वित्व होता है)। वि तन् तन् इरे='पूर्वोऽभ्यासः' तथा 'हलादिः शेषः' से पूर्व हल् का अवशेष बचना, उपधालोप—वित त्न् इरे—वर्णसम्मेलन से वितत्निरे। संस्कृत में वि तन् तन् इरे होने पर 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४।१२०) सूत्र लगता है जिसका अर्थ है कि लिट् पर में होने से जिस अंग के आदि में अभ्यास नहीं हुआ हो, दो अकेले व्यञ्जनों के बीच रहने वाले उस अकार को एकार हो जाता है तथा अभ्यास का भी लोप हो जाता है यदि कित्, ङित् लिट् हो। अतः वि तेन् इरे—वितेनिरे बन जायगा। कवयः वितत्निरे=कवियों ने प्रसारित किया। पुनः, √पत्+लिट् (म)—पत् पत् इट् म—पपत् इम—पप्त् इम=पप्तिम (हमलोग गिरें)। संस्कृत में उपर्युक्त नियम के अनुसार ही अभ्यासलोप और एकार होकर पेत् इम=पेतिम। यद्यपि दोनों सूत्र (तनिपत्योश्छन्दसि और अत एकहल्मध्ये०) आभीय प्रकरण में आते हैं तथापि वैदिक रूपों की सिद्धि करते समय उपधा का अकारलोप असिद्ध नहीं होगा क्योंकि लोप का विधान बलवान् होता है।

(१६२) **घसिभसोर्हलि च** (६।४।१००)। सग्धिश्च मे (यजु० १८।९)। बब्धां ते हरी धानाः।

(१६३) **हुझल्भ्यो हेर्धिः** (६।४।१०१) **श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि** (६।४।१०२)। श्रुधी हवम्। शृणुधी गिरः। रायस्पूर्धि (ऋ० १।३६।१२)। उरुणस्कृधि (ऋ० ८।७५।१)। अपावृधि।

वेद में घस् (√अद्='खाना' का लुङ् और सन् में होने वाला आदेश) और √भस् (निन्दा या चमकना, जुहोत्यादि) इन दो धातुओं की उपधा का लोप हो जाता है यदि बाद में हलादि या अजादि कित्-ङित् प्रत्यय हो। √अद+क्तिन्='बहुलं छन्दसि' से घस् आदेश—घस्+ति=उपधा-लोप, घ्स् ति='झलो झलि' से स् का लोप, घ् ति='झषस्तथोर्धोऽधः' से त का

घ, घ् धि=घ् का ग् 'झलां जश् झशि' से—ग्धिः (भोजन)। समाना ग्धि —सग्धिः (सहभोज), 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' से समान का स ✓भस्+लोट् (ताम्)=जुहोत्यादि होने से श्लु-विकरण, जिसमें द्वित्व अभ्यासकार्य—भस् भस् ताम्—भभ्स् ताम्—बभ्स् ताम्—(अभ्यासे चर्च) —'झलो झलि' से स्लोप तथा त का ध (झषस्तथो०)—ब भ् धाम्— जश्त्व से बब्धाम् (दोनों घोड़े चमकें)।

संस्कृत में √हु (हवन करना) तथा झल्-प्रत्याहार से अन्त होने वाले धातुओं के बाद लोट् लकार के हि के स्थान में धि आदेश हो जाता है जैसे— जुहुधि। भिन्द्धि। अब वेद में यह धि आदेश निम्नलिखित धातुओं को भी हो जाता है—श्रु, शृणु, पृ (पूरा करना) कृ, वृ। (१) अतः श्रु+हि= श्रुधि, 'बहुलं छन्दसि' से शप् का लोप और शप् का लोप होने के कारण 'स्वादिभ्यः श्नुः' से लगने वाला श्नु-विकरण भी नहीं लगता। यही नहीं विकरण के अभाव में 'श्रुवः शृ च' से शृ आदेश भी नहीं होता। 'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ—श्रुधी हवम् (हमारा आवाहन सुनो)। (२) शृणु— ऊपर के उदाहरण में जो चीजें वारित की गईं वे यहाँ लगती हैं—शृ आदेश शप् (श्नु), 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' से णत्व। शृणु+हि (धि) शृणुधी—'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ। (३) रायस्पूर्धि—धन पूरा करो पृ+हि, शप् का लोप होने से श्लु (क्योंकि यह जुहोत्यादि धातु है) भी नहीं लगा। √पृ के ऋकार को 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से उत्, 'उरण्रपरः' से र्=पुर् हि, 'हलि च' से दीर्घ ऊकार—हि का धि=पूर्धि, पूर्धि। रायः, रै (धन का द्वितीया बहुवचन। (४) उरुणस्कृधि—नः (हमें) उरु (बहुत धन कृधि (कर दो)। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' से न का ण। 'कः करत्करतिकृधि' (८।३।५०) से विसर्ग का स्। √कृ+हि। शप् का लोप नहीं हुआ तो 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' भी नहीं लगता कि हि का लोप करे। हि का लोप नहीं होने से धि आदेश—कृधि। संस्कृत में—कुरु। (५) अपावृधि—(कुछ प्रतियों में यह उदाहरण दिया ही नहीं है)। अप+√वृ+हि=शप् का लोप, फलतः श्नु का नहीं आना। हि का लोप भी नहीं। अप वृ धि 'अन्येषामपि दृश्यते' से अपावृधि। संस्कृत—अपवृणु।

(१६४) वा छन्दसि (३।४।८८)। हिरपिद् वा।

(१६५) अङ्तिश्च (६।४।१०३)। हेर्धिः स्यात्। रारन्धि (ऋ० १।९१।१३)। रमेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम्। शपः श्लुरभ्यास-दीर्घश्च। अस्मे प्रयन्धि (ऋ० ३।३६।१०)। युयोधि जातवेदः। यमेः शपो लुक्। यौतेः शपः श्लुः। 'अङ्तिः' किम् ? प्रणीहि।

पहला सूत्र तीसरे अध्याय का है और 'सेह्यंपिच्च' (३।४।८७) के बाद आया है। लोट् में सिप् के स्थान में हि आदेश होता है तथा इसे अपित् मानते हैं यद्यपि सिप् का स्थानी होने से यह पित् होता है। वेद में हि को विकल्प से अपित् मानते हैं। इससे मिलने वाला फल अगले सूत्र में है।

जब हि ङित् नहीं (अङित्) हो तब हि के स्थान में वेद में धि आदेश हो जाता है। सार्वधातुक प्रत्ययों में पित् और ङित् विरोधी हैं; जहाँ पित् नहीं होगा, ङित् होगा। इसके लिए सूत्र भी है 'सार्वधातुकमपित्'। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि वेद में हि विकल्प से अपित् (अर्थात् ङित्) होता है। इसलिए कहीं तो हि ङित् होगा, कहीं नहीं। जहाँ नहीं हो, वहाँ हि को धि बनने से कौन रोक सकता है ? उदाहरण लें—रम् (रमु क्रीडायां-अनुदात्त उ की इत् संज्ञा होने से आत्मनेपद, परन्तु यहाँ व्यत्यय से परस्मैपद है)+लोट् हि भ्वादि होने के कारण यहाँ शप् होना चाहिए जिसे "व्यत्ययो बहुलम्' से श्लु में बदल देते हैं—श्लु के कारण द्वित्व—रम् रम् हि (धि) =ररम् धि='तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' से अभ्यासदीर्घ—रारम्धि। अब 'मोऽनुस्वारः' से म् का अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' द्वारा धि का सवर्ण न् बना तथा 'रारन्धि'। यहाँ पर हि अङित् या पित् था इसीलिए 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपः क्ङिति' से अनुस्वार लोप नहीं हुआ। अस्मे=हमपर। प्रयन्धि=प्र+√यम्+हि (पित्) शप् का लोप (बहुलं छन्दसि)। 'अनुदात्तोपदेश०' से होने वाला मलोप भी नहीं क्योंकि हि को अङित् माना गया है। अनुस्वार और परसवर्ण से प्रयन्धि। युयोधि=√यु (अदादि)+हि (पित्)=अदादि होने पर भी शप् को श्लु (व्यत्ययो बहुलम्)—द्वित्व यु यु धि। चूंकि हि अङित् है अतः गुण होने की अनुमति दी जा सकती है ('सार्वधातुकार्धधातुकयोः) युयोधि। संस्कृत में इनके रूप होंगे—रमस्व, प्रयच्छ, युहि।

(१६६) **मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः** (६।४।१४१)। आत्मन्‌शब्दस्य आदेर्लोपः स्यादाङि। त्मना देवेषु।[1]

(१६७) **विभाषर्जोश्छन्दसि** (६।४।१६२)। ऋजुशब्दस्य ऋतः स्थाने रः स्याद्वा इष्ठेमेयस्सु। त्वं रजिष्ठमनुनेषि। ऋजिष्ठं वा।

मन्त्रेषु+आङि+आदेः+आत्मनः=वैदिक-मंत्रों में आत्मन् शब्द के प्रथम वर्ण (आ) का लोप हो जाता है यदि पर में आङ् (सुबन्त प्रत्यय का टा—तृतीया एकवचन) रहे। आत्मन्+टा=आत्मना, त्मना। 'देवताओं को स्वयं ही'। वार्तिककार आङ् से भिन्न स्थलों में भी 'आ' का लोप मानते हैं जैसे 'त्मन्यासमञ्जत मह्यम्'। नागेश ने सूत्र के 'आदेः' शब्द पर आपत्ति उठायी है। जब इसके पूर्व में 'आतो धातोः' सूत्र है तो उसी से 'आतः' की अनुवृत्ति चली आती, प्रस्तुत सूत्र में तो केवल 'आ' का लोप करना ही अभीष्ट है—'मन्त्रेष्वाङ्यात्मनः' कहने से काम चल जाता। 'आदेः' शब्द व्यर्थ है। वार्तिककार के अनुसार 'आङि' तो व्यर्थ है ही क्योंकि आङ् से भिन्न स्थलों में भी तो लोप होता है।

ऋजु-शब्द के ऋ के स्थान में विकल्प से र हो जाता है यदि पर में इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्यय लगे। ऋजु+इष्ठन्=रजु+इष्ठन्। 'टेः' सूत्र से उ का लोप होकर—रज्+इष्ठ=रजिष्ठम् (सबसे अधिक सीधा)। वैकल्पिक र होने से ऋजिष्ठः भी होगा। इसी प्रकार रजिमा ऋजिमा तथा रजीयान्–ऋजीयान् भी होंगे।

(१६८) **ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि** (६।४।१७५)। ऋतौ भवमृत्व्यम्। वास्तुनि भवं वास्त्व्यम्। वास्त्वं च। मधुशब्दस्याणि स्त्रियां यणादेशो निपात्यते। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः (ऋ० १।९०।६)। हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते—'हिरण्ययेन सविता रथेन (ऋ० १।३५।२)॥

वेद में निम्नलिखित पाँच शब्दों की सिद्धि निपातन से होती है—(१) ऋत्व्य—ऋतु+यत्, यणादेश (उ को व् होना) का निपातन–ऋत्व्यम्। संस्कृत में 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) से उ का गुण होकर ओ तथा अवादेश—

---

(१) तुलनीय—ऋ० ७।३४।६ त्मना समत्सु हिनोत यज्ञम्।

ऋतव्यम् । (२) वास्त्व्य—वास्तु+यत् (स्थानों में उत्पन्न या भव के अर्थ में)—यणादेश का निपातन वास्त्व्यम् । लोक में—वास्तव्यम् । (३) वास्त्व —वास्तु+अण्=यण्–वास्त्वम् । लोक में—वास्तवम् । (४) माध्वी— मधु+अण्+ङीप् (टिड्ढाण्०)—यणादेश का निपातन—माध्व+ङीप्= माध्वी । लोक में—माधवी । हमारे बनस्पति मधु से पूर्ण हों । (५) हिरण्यय—हिरण्य+मयट् । निपातन से मयट् के म का लोप—हिरण्ययम् (स्वर्णनिर्मित) । लोक में—हिरण्मयम् (यह भी ६।३।१७४ के निपातन से) । सविता देवता स्वर्णमय रथ से…।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

सप्तमोऽध्यायः

[रुट् आगम—तृतीया बहुवचन—सुप् विभक्तियों के विभिन्न आदेश—अम् का मश्—आत्मनेपद त का लोप—ध्वम् के आदेश—त (लोट्) के आदेश—उत्तम पुरुष में मसि—क्त्वा के आदेश—जस् में असुक् आगम—आम् (ष० बहु०) के रूप—नुम्—ऋ का उत्—ह्वर् के निपातन—निष्ठा और तृच् आदि में निपातन—घु का लेट् रूप—धातुओं की रूपसिद्धि—सुबन्तों की रूपसिद्धि—क्यच् का रूप—सुधितादि निपातन—अत् आदेश—यङ्लुक् के निपातन—ससूव—अभ्यास में इकार ।]

(१६९) शीङो रुट् (७।१।६) । बहुलं छन्दसि (७।१।८)। रुडागमः स्यात् । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (७।१।४१) । इति पक्षे तलोपः । धे॒नवो॑ दु॒ह्रे॑ । लोपाभावे—घृ॒तं दु॑ह्रते । अदृ॑श्रमस्य (ऋ० १।५०।३) ।

संस्कृत में √शीङ् (सोना) के बाद झ (आत्मने० प्रथम० बहु०) के स्थान में लगने वाले अत् आदेश को रुट् का आगम होता है जिससे शी+रुट् +अते (अत्+ए—टित आत्मनेपर्दानां टेरे ३।४।७९) गुण होकर—शेरते (लट्), शेरताम् (लोट्) तथा अशेरत (लङ्) इत्यादि रूप बनते हैं । लेकिन वेद में यह रुट् का आगम बिना किसी नियम के होता है, दूसरे धातुओं के बाद भी झ के स्थान में अत् होने पर रुट् का आगम हो सकता है । एक दूसरे सूत्र 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' के कारण वेद में आत्मनेपद के तकार का लोप भी होता है, अतः रुट् के बाद भी त् का वैकल्पिक लोप सम्भव है । √दुह् (दूध दूहना) + झ (अत्—आत्मनेपदेष्वनतः ७।१।५ से) । रुट् आगम (बहुल रूप से)—दुह्+र्+अत्+(झ का) अ । दुह्+र्+अत । ('टित आत्मनेपदानां टेरे' से एकार)—दुह्रते । त का लोप होने पर—दुह्र+ए ('अतो गुणे' ६।१।९७ से गुण)—दुह्रे । अदृश्रम्+अस्य—√दृश् (देखना)+लुङ् झि (अन्ति—'इतश्च' से इलोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' ८।२।२३) से त् लोप—रुट् आगम, अट्—अ दृश् र् अत् (अत् या झि के

स्थान में व्यत्यय से मिप् का अम्)—अदृश्रम् । संस्कृत में 'ऋदृशोऽङि गुणः' से गुण होकर 'अदर्शम्' बनता ।

(१७०) अतो भिस् ऐस् (७।१।९) । बहुलं छन्दसि (७।१।१०) । अ॒ग्निर्दे॒वेभिः॑ (ऋ० ३।३।६) ।

(१७१) नेतराच्छन्दसि (७।१।२६) । स्वमोरद्ड् न । वार्त्रघ्नमितरम् । छन्दसि किम् ? इतरत्काष्ठम् ।

(१७२) समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७।१।३७) । क्त्वापि च्छन्दसि (७।१।३८) । यजमानं परिधापयित्वा ।

संस्कृत में अकारान्त अङ्ग के बाद भिस् (तृतीया बहु०) का ऐस् आदेश होता है जैसे—देव + भिस् (ऐस्)=देवैः । किन्तु वेद में यह ऐस् बहुलरूप से होता है, जहाँ होना चाहिये वहाँ नहीं भी होता है और नहीं होने के स्थान में भी ऐस् हो जाता है । देव + भिस् (ऐस् नहीं हुआ) । 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) से एकार—देवेभिः । नदी शब्द में ऐस् नहीं होना चाहिये किन्तु 'नद्यैः' रूप मिलता है ।

संस्कृत में डतर आदि[1] पाँच सर्वनामों के बाद सु तथा अम् प्रत्यय को अद्ड् (अत्) आदेश होता है लेकिन वेद में 'इतर' शब्द से ऐसा नहीं होता । इतर+अम्=इतरम् । वेद से भिन्न स्थान (लोक) में 'इतरत्' रूप होगा । इतरत् काष्ठम् ।

पूर्वपद में यदि नञ् (अ, अन्) नहीं हो तो समास में क्त्वा के स्थान ल्यप् हो जाता है जैसे—परित्यज्य (गतिसमास) । वेद में ऐसे स्थानों में ल्यप् नहीं होकर क्त्वा भी रह सकता है—परिधापयित्वा=परि+धा+णिच् (पुगागम)+क्त्वा । संस्कृत में परिधाप्य (पहनाकर) । 'अपि' का प्रयोग कहता है कि ल्यप् भी सम्भव है, नागेश उदाहरण देते हैं—उद्घृत्य तान् जुहोति ।

(१७३) सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (७।१।३९) । ऋ॒जवः॑ सन्तु॒ पन्थाः॑ (ऋ० १०।८५।२३) । पन्थान इति प्राप्ते सुः । प॒र॒मे व्यो॑मन् (ऋ० १।१२९।७) । व्योमनीति प्राप्ते ङेर्लुक् ।

(१) डतर, डतम (ये दोनों प्रत्यय हैं), इतर, अन्य तथा अन्यतर ।

धी॒ती म॒ती सु॑ष्टु॒ती। धीत्या मत्या सुष्टुत्येति प्राप्ते पूर्वसवर्णदीर्घः। या सुरथा॑ र॒थीत॑मो॒भा दे॒वा दि॑वि॒स्पृशा॑ अश्विना (ऋ० १।२२।२)। यौ सुरथौ रथीतमौ दिविस्पृशावित्यादौ प्राप्ते आ। नताद् ब्राह्मणम्। नतमिति प्राप्ते आत्। (या दे॒व वि॒द्म ता त्वा॑। यमिति प्राप्ते।) न युष्मे वाजबन्धवः (ऋ० ८।६८।१९) अ॒स्मे इ॑न्द्राबृहस्पती (ऋ० ४। ४९।४) युष्मासु अस्मभ्यमिति प्राप्ते शे। उरुया। धृष्णुया। उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते या। ना॒भा पृ॑थि॒व्याः (ऋ० १।१४३।४)। 'नाभौ' इति प्राप्ते डा। ता अनुष्ठचोच्च्यावयतात् (ऐ० ब्रा० २।६।१५)। अनुष्ठानमनुष्ठा। व्यवस्थावदङ्। आङो डचा। सा॒धु॒या—साध्विति प्राप्ते याच्। वसन्ता यजेत। वसन्ते इति प्राप्ते आल्।

वैदिक-भाषा में सुप् प्रत्ययों के स्थान में निम्नलिखित आदेश प्रयुक्त होते हैं—

(१) सु—किसी सुप् विभक्ति के स्थान में सु—पन्थाः। वस्तुतः यहाँ वाक्य में 'ऋजवः सन्तु पन्थानः' अपेक्षित है। 'पन्थानः' में पथिन्+जस् प्रत्यय है, उस जस् के स्थान में सु प्रयुक्त हुआ है। 'सभी मार्ग सरल हो जाएँ।'

(२) लुक्—किसी सुप् प्रत्यय का लोप—व्योमन्। यहाँ 'परमे व्योमनि' चाहिये। 'व्योमनि' में व्योमन्+ङि (सप्त० ए०) है। यहाँ ङि का लोप हो गया। 'सर्वोच्च आकाश में'।

(३) पूर्वसवर्ण—जहाँ स्वरादि सुप् प्रत्यय में यण् आदेश विहित हो उसके स्थान पर पूर्ववर्ण का सवर्ण कर देना। धीति+टा (तृ० ए०)= धीति आ (लोक में धीत्या, यण् होकर) वेद में—पूर्वसवर्ण—धीती, (कर्म से), मति+आ=मती (बुद्धि से), सुष्टुति+आ=सुष्टुती (सुन्दर स्तुति से)। लोक में मत्या, सुष्टुत्या। यह नियम केवल तृतीया एकवचन में देखा जाता है।

(४) आ—द्विवचन (औट्, औ) में होने वाले औकार के स्थान में आकार का होना। यौ से या, सुरथौ-सुरथा, देवौ-देवा, दिविस्पृशौ-दिविस्पृशा, अश्विनौ-अश्विना, इत्यादि। यद्+औ, सुरथ+औ (आ), देव+औ (आ— इत्यादि)।[1] राजानौ-राजाना, स्पृशन्तौ-स्पृशन्ता।

---

१. पूरा मन्त्र है—या सुरथा अथीतमोभा देवा दिविस्पृशा।
अश्विना ता हवामहे (ऋ० १।२२।२)

(५) आत्—अम् (द्वितीया एकवचन) के स्थान में आत् का होना। नत+अम्=नत+आत्=नतात् (झुके हुए को)। यहाँ आत् के त् की इत्संज्ञा नहीं होती क्योंकि सूत्र है—'न विभक्तौ तुस्माः' अर्थात् विभक्तिस्थित तवर्ग, स्, और म् की इत्संज्ञा नहीं होती, भले ही अन्य सूत्र उसका विधान कर रहे हों। अतएव दीक्षित जी ने आगे जो उदाहरण—यम् के स्थान में 'या' का दिया है, भ्रान्त है। इसमें अम् के स्थान में आ समझें, अन्यथा यह उदाहरण किसी लिपिकार ने भ्रम से जोड़ दिया होगा। कुछ भी हो, अम् के स्थान में आ हुआ है काशिका में ऐसा उदाहरण है ही नहीं। एक ही उदाहरण आत् के लिए पर्याप्त था। विशेषतया दीक्षितजी वैसे ही स्थलों में उदाहरण बढ़ाते हैं जब उनके कई रूप होते हैं। यहाँ तो अम् के ही स्थान में दोनों जगह आत् किया है, अतः दूसरा उदाहरण व्यर्थ है—लिपिकार का दोष है।

(६) शे—सुप् (सप्तमी बहुवचन) तथा भ्यस् (च० ब०) के स्थान में शे हो जाना। युष्मद्+सुप् (शे)='शेषे लोपः' से द् का लोप= युष्मे (=युष्मासु)। तुम लोगों में कोई धनवान् नहीं। अस्मत्+भ्यस् (शे)=अस्मे (=अस्मभ्यम्, 'भ्यसो भ्यम्' से)। इन्द्र और बृहस्पति हमें············।

(७) या—तृतीया एकवचन में ना के स्थान में या होना। घि-संज्ञक प्रातिपदिकों से तृतीया ए० में टा के स्थान में ना आदेश होता है ('आङो नाऽस्त्रियाम्') जैसे—मुनिना, साधुना। किन्तु वैदिक प्रयोग या का भी है— उरु+टा (या)=उरुया; धृष्णु+टा=धृष्णुया। लोक में—उरुणा तथा धृष्णुना ये रूप होंगे।

(८) डा—सप्तमी के औ ('औत्' सूत्र द्वारा निष्पन्न) के स्थान में डा आदेश। आदेश के ङित् रहने से टि (अन्तिम स्वरवर्ण या उससे आरम्भ होने वाला वर्णसमूह) का लोप हो जाता है। नाभि+ङि='औत्' से नाभौ (लोक में)। वेद में नाभि+ङि (डा)=नाभि के टि (इकार) का लोप—नाभ्+आ=नाभा (नाभि में)। डा तथा आ (ऊपर का चौथा) में अन्तर यह है कि वह प्रथमा-द्वितीया के औकार से सम्बन्ध रखता है जब

कि डा सप्तमी का आदेश है। यहाँ ड् का अनुबन्ध इसलिये किया कि नाभि शब्द के इ (टि-अंश) का लोप करना है, आ के पक्ष में (यद्, सुरथ इत्यादि उदाहरणों में) टि को लोप करने की आवश्यकता नहीं है।

(९) ड्या—तृतीया एक० में (आङ् को) ड्या आदेश। ताः अनुष्ठ्या+उच्च्यावयतात्=उन सवों को ठीक गणना करके (अनुष्ठ्या) पृथक् होने दो। यहाँ अनुष्ठा (=अनुष्ठान, उचित गणना) शब्द से तृतीया में अनुष्ठया ('लतया' के समान) होना चाहिए जिसके लिए सूत्र है 'आङि चापः' (७।३।१०५) अर्थात् अनुष्ठे (एकारादेश)+आ=अनुष्ठया, परन्तु वेद में ड्या-आदेश करके अनुष्ठा+टा (ड्या)—टिलोप=अनुष्ठ्या। 'अनुष्ठा' शब्द की व्युत्पत्ति भी अनियमित है—अनु+स्था+अङ् (कृत्प्रत्यय स्त्रियाम्)+टाप् (स्त्री०)। स्था धातु में पाणिनि-सूत्र 'स्थागापापचो भावे' (३।३।९५) से क्तिन् की प्राप्ति है, अङ् की नहीं; ऐसा भी नहीं कह सकते हैं कि दोनों प्रत्यय होंगे—क्योंकि 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' में स्त्री-अधिकार वाले प्रत्ययों का निषेध है। अतः यह नियम का उल्लंघन है। इसलिए दीक्षित जी पाणिनि की ही दुहाई देते हैं कि उन्होंने स्वयं 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (१।१।३४) सूत्र में 'व्यवस्था' का प्रयोग किया है—उसी के सादृश्य से 'अनुष्ठा' भी वनी और अङ् प्रत्यय से। काशिका भी कहती है—(पृ० २१३) कथमवस्था संस्थेति ? 'व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' इति ज्ञापकात् नात्यन्ताय वाधा भवतीति।

(१०) याच्—सम्बोधन एकवचन में याच् होना। साधु+सु='एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से सुलोप की प्राप्ति थी, पर साधु+याच्='साधुया' हो गया। नियमतः—साधो।

(११) आल्—सप्तमी ए० के एकार के स्थान में आल्—वसन्त+ङि=वसन्ते (आद्गुणः)—परन्तु वेद में 'वसन्ता'।

ये सारे नियम या आदेश कुछ सीमित शब्दों को सिद्ध करने के लिए हैं। यह नहीं समझें कि सर्वत्र ऐसा ही होगा। वस्तुतः इष्टसिद्धि के लिए ये नियम वनाये गये हैं जिससे वेद-प्रयुक्त शब्दों को व्याकरणशास्त्र की सीमा में लाया जा सके।

[क] इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् (वा०)। उर्विया। दार्विया। उरुणा, दारुणेति प्राप्ते इया। सुक्षेत्रिया। सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच्। दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्। ङेरीकार इत्याहुः। तत्राद्युदात्ते पदे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तता। वस्तुतस्तु ङीषन्तात् ङेर्लुक्। ईकारादेशस्य तूदाहरणान्तरं मृग्यम्॥

वार्तिककार कात्यायन पाणिनि के सूत्र में परिवर्धन चाहते हुए कहते हैं कि सुप् के स्थान में इया, डियाच् और ईकार—ये तीन आदेश और होते हैं। (१) इया—उरु + टा (ना) के स्थान में उरु+इया, 'इको यणचि' से उ का व्=उर्विया, लोक में—उरुणा। दारु (लकड़ी, ग्रीक—drus)+टा =दार्विया, लोक में—दारुणा। (२) डियाच्—सुक्षेत्रिन्+टा (आ)= 'सुक्षेत्रिणा' लोक में। परन्तु वेद में डियाच् होने से डित् के कारण इन् (टि) का लोप—सुक्षेत्रिया। (३) ई—सरस् + ङि के स्थान में सरस्+ई=सरसी =तालाब में। पूरे चरण का अर्थ है—झील में सूखी लकड़ी के टुकड़े की तरह पड़े हुए……। काशिका में यही उदाहरण है जिसपर दीक्षितजी आपत्ति उठाते हैं। ई प्रत्यय होने से सरसी शब्द आद्युदात्त हो जायगा परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि वह अन्तोदात्त है। ऐसी दशा में 'व्यत्ययो बहुलम्' के 'कालहलच्स्वर—' वार्तिक द्वारा स्वर-व्यत्यय मान लें—आदि-अक्षर का उदात्त होने के बदले अन्तिम का हुआ। पर दीक्षित जी को यह पसन्द नहीं—वस्तुतः यहाँ सरस्+ङीष्=सरसी (तालाब) शब्द से ही 'ङि' प्रत्यय लगा है जो 'सुपां सुलुक्…' से लुप्त हो गया है। अब ईकार आदेश वाला उद्धरण आप ही कहीं वेद में खोज लें—दीक्षितजी को मुक्ति दीजिये।

[ख] आङ्याजयारामुपसंख्यानम् (वा०)। प्र बाहवा सिसृतम्। बाहुनेति प्राप्ते आङादेशः। 'घेर्ङिति' (७।३।१११) इति गुणः। स्वप्नया। स्वप्नेनेति प्राप्तेऽयाच्। स नः सिन्धुमिव नावया। नावेति प्राप्तेऽयार्। रित्स्वरः।

अभी भी कुछ आदेश छूट रहें हैं जो तृतीया एकवचन के ही भाग में पड़ने वाले हैं—आङ्, अयाच् और अयार्। (१) आङ्—बाहु+टा= बाहुना (लोक में); वेद में बाहु+टा (आङ्)। 'घेर्ङिति' से गुण क्योंकि

पूर्व में घि (बाहु) तथा पर में ङित् प्रत्यय (आङ्) है—बाहो+आ, 'एचोऽयवायावः' से बाहवा। प्रसिसृतम्=फैलो (सृ+लोट्) (२) अयाच्—स्वप्न+टा (अयाच्)='अतो गुणे' में पूर्वसवर्ण—स्वप्नया। लोक में 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से इन् आदेश होकर 'स्वप्नेन' रूप होगा। स्मरणीय है कि सूत्र में निर्दिष्ट याच् से अयाच् का काम नहीं चल सकता क्योंकि स्वप्न+याच् करने पर 'सुपि च' से दीर्घ होकर 'स्वप्नाया' बन जायगा। (३) अयार्—नौ+टा (अयार्)। आव् आदेश (एचोऽयवायावः)—नावया। लोक में—नावा। जैसे नदी को नाव से (पार करते हैं) उसी तरह वह हमें……। र् का अनुबन्ध इसलिए लगाया है कि 'उपोत्तमं रिति' (६।१।२१७) सूत्र से उपान्त्यस्वर वर्ण (Penultimate Vowel) उदात्त हो जिसमें 'नावया' में व का अकार उदात्त है।

(१७४) **अमो मश्** (७।१।४०)। मिबादेशस्यामो मश् स्यात्। अकार उच्चारणार्थः शित्त्वात्सर्वादेशः 'अस्तिसिचः…' (७।३।९६) इति ईट्। वधीं वृत्रम् (ऋ० १।१६५।८)। अवधिषम् इति प्राप्ते।

लुङ् या लङ् में मिप् (उत्तमपुरुष एकवचन) का अम् आदेश हो जाता है ('तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः')। वेद में उस अम् के स्थान में मश् आदेश होता है जिसका केवल म् ही बचता है। 'लशक्वतद्धिते' से श् की तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से अ की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप। अकार उच्चारण की सुविधा के लिए है नहीं तो म्श् का उच्चारण दुष्कर होगा। श् को इत् मानने से समूचे अम् के बदले में मश् आदेश होगा—'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१।१।५५)। अब, √हन्+लुङ् (मिप्—अम्)। 'हनो वध लिङि, लुङि च (२।४।४२-४३)' से वध् आदेश, हन् के स्थान में। अतः अट्+वध्+इट्+सिच्+ईट्+मश्। इन्हें यों समझें—'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से अट्, लुङ् में च्लि और उसका सिच् आदेश, सिच् होने से 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' लगकर इट्, मश् (म्) अपृक्त अर्थात् एकाक्षर प्रत्यय है, इसलिए 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईट्। अब 'इट ईटि' सूत्र से (जिसका अर्थ है इट् के बाद स् का लोप हो यदि पर में ईट् हो) स् (सिच्) का लोप तथा 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' से अट् का लोप होकर—वध् इ ई म्=वधीम्।

लोक में ईट् नहीं लगता क्योंकि वहाँ अम् रहता है जो अपृक्त नहीं, अतः अवधिषम्। 'वृत्र को मैंने मारा'।

(१७५) **लोपस्त आत्मनेपदेषु** (७।१।४१)। छन्दसि। देवा अदुह्र। अदुहतेति प्राप्ते। दक्षिणतः शये। शेते इति प्राप्ते। 'आत्मने-' इति किम्? वत्सं दुहन्ति।

आत्मनेपद में रहने वाले त् का वेद में लोप हो जाता है। जैसे—अदुहत के स्थान में अदुह्र। प्रक्रिया यों है—अट्+√दुह्+लङ् (झ के स्थान में अत, 'आत्मनेपदेष्वनतः')। अदुह् अ—'शीङो रुट्' तथा 'बहुलं छन्दसि' से रुट् का आगम—अदुह्र। पुनः √शीङ्+त (लट्)। एकार तथा धातु को गुण (शीङः सार्वधातुके गुणः) होकर शेते (लोक में)। वेद में शे+ए (त का लोप), अयादेश—शये। यह तकार-लोप केवल आत्मनेपद में ही होता है, दुह् का रूप जब परस्मैपद में हो तब तो 'दुहन्ति' जैसे रूप होंगे। उसी प्रकार दुग्धाम् (लोक)—दुहाम् (वेद)—काशिका।

(१७६) **ध्वमो ध्वात्** (७।१।४२)। (ध्वमो ध्वादित्यादेशः स्याच्छन्दसि)। अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात्। वारयध्वमिति प्राप्ते (ऐ० ब्रा० २।६।१४)।

(१७७) **यजध्वैनमिति च** (७।१।४३)। एनमित्यस्मिन्परे ध्वमोऽन्तलोपो निपात्यते। यजध्वैनं प्रियमेधाः (ऋ० ८।२।३७)। 'वकारस्य यकारो निपात्यते' इति वृत्तिकारोक्तिः प्रामादिकी॥

मध्यमपुरुष बहुवचन में होनेवाले ध्वम्-प्रत्यय को वेद में ध्वात् आदेश होता है जैसे—वारयध्वम् (वृ+णिच्+लोट् ध्वम्) के स्थान पर 'वारयध्वात्' का प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण में है। अन्तः एव ऊष्माणं वारयध्वात्= अपनी गर्मी को भीतर ही रोक रखिये।

वेद में यजध्वम्+एनम् की सन्धि होने पर ध्वम् के म् का लोप निपातन से से होता है—यजध्व+एनम्। 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर यजध्वैनम्। हे यज्ञ के प्रेमी लोग, इसके लिए यज्ञ करो। काशिका में वृत्ति दी गई है कि—'मकारलोपो निपात्यते वकारस्य च यकारश्छन्दसि विषये।' यहाँ पर वकार का यकार होना तो बिल्कुल असंगत है। 'यजध्वैनम्' में यकार का प्रश्न ही

कहाँ उठता है ? दीक्षित जी इसलिए वृत्तिकार की उक्ति को प्रमादजन्य कहते हैं। संभव है वृत्तिकार के समक्ष सूत्र-पाठ 'यजध्यैनम्' रहा हो।

(१७८) तस्य तात् (७।१।४४)। लोटो मध्यमपुरुषबहुवचनस्य स्थाने तात्स्यात्। गात्रमस्यानूनं कृणुतात्। कृणुतेति प्राप्ते। सूर्यं चक्षुर्गमयतात्। गमयतेति प्राप्ते।

लोट्लकार में मध्यमपुरुष बहुवचन में होने वाले त-प्रत्यय के स्थान में तात् आदेश होता है। जैसे कृणुत से स्थान में कृणुतात्। कृवि धातु के अर्थ हैं हिंसा और करण। चूंकि इसमें इकार की इत्संज्ञा होती है अतः 'इदितो नुम्धातोः' से नुम् का आगम अन्तिम अच् (कृव् में ऋ) के बाद होगा तथा कृन्व् ऐसा बनेगा। ऋ के बाद न् का ण् होकर 'धिन्विकृण्व्योर च' (३।१।८०) से शप् के स्थान में उकार विकरण तथा अकार का अन्तादेश भी होगा (व के स्थान में)। अब अकार का लोप भी 'अतो लोपः' (६।४।४८) से हो गया। अतः कृण् उ+त (लोट् म० ब०)। वर्ण-सम्मेलन करके 'कृणुत' और वेद में कृणुतात्। (चूंकि त (ङ्) प्रत्यय ङित् है इसलिए उसके स्थान में आने वाला तात् भी ङित् ही माना जायगा जिसके फलस्वरूप गुण का निषेध हो जायगा।

यहाँ पर कुछ लोग पूछ सकते हैं कि धातु में 'पुगन्तलघूपधस्य' से गुण क्यों नहीं होगा ? 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५६) यही सूत्र है जिसके अनुसार गुण-निषेध कर देते हैं। परन्तु सूत्र में 'अनल्विधौ' यह निषेध दिया है कि उन स्थानों पर स्थानिवत् आदेश नहीं होता जहाँ अल् (किसी भी वर्ण) पर आश्रित आदेश हो जैसे दिव् को प्रथमा एकवचन में आदेश होता है औत् (दिव औत् ७।१।८४)— जिससे द्यौ+सु लगाकर द्यौः होता है—यहाँ दिव् शब्द के स्थान में द्यौ हुआ है; स्थानिवत् आदेश के अनुसार तो दिव् के बाद जैसे सुलोप (हलन्त होने के कारण—हल्ङ्याब्०) की प्राप्ति थी वैसे ही द्यौ के बाद भी, किन्तु यहाँ आदेश अक्षर के द्वारा हुआ है (दिव् के स्थान में औ) न कि अक्षर-समूह के द्वारा— अतः स्थानिवदादेश नहीं हुआ। उसी प्रकार प्रस्तुत-दशा में 'धिन्विकृण्व्योर च' सूत्र के अनुसार व् के स्थान में 'अ' आदेश हुआ इसीलिए यहाँ भी स्थानिवत् आदेश नहीं होना चाहिए, तदनुसार

धातु में गुण हो जायगा क्योंकि कृण्+उ तात् ऐसा रूप है। उत्तर में यह कहना है कि अकार का स्थान धातृ के पश्चात् है ही, उसके रहने पर 'पुगन्तलघूपधस्य' से गुण हो नहीं सकता। अनल्विधि से अकार को स्थानिवत् मानना अयुक्त है क्योंकि धातु में पहले से अ नहीं था कि उक्त निषेध यहाँ प्राप्त हो। अतः सभी दशाओं में गुण के अभाव में कृणुत और कृणुतात् रूप होंगे।

दूसरा उदाहरण है 'गमयत' के स्थान में 'गमयतात्'। √गम्+णिच्+लोट् (त)=चूँकि गम् के अन्त में अम् लगा हुआ है अतः 'जनीजृषक्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (गणसूत्र) के अनुसार इसे मित् करेंगे तथा 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) के अनुसार इसकी उपधा की वृद्धि नहीं होगी। अतः गमि+शप्+त=सार्वधातुकगुण होकर गमे+अ+त—अयादेश—गमयत, वेद में गमयतात्। दोनों मन्त्रों के अर्थ—इसके शरीर को अक्षीण (पुष्ट) कर दो। सूर्य के प्रति आँखें जाने दो।

(१७९) तप्तनप्तनथनाश्च (७।१।४५)। तस्येत्येव। शृणोत ग्रावाणः। शृणुतेति प्राप्ते तप्। सुनोतन पचत ब्रह्मवाहसे। दधातन द्रविणं चित्रमस्मे। तनप्। मरुतस्तज्जुजुष्टन। जुषध्वमिति प्राप्ते व्यत्ययेन परस्मैपदं श्लुश्च। विश्वे देवासो मरुतो यति ष्ठन। यत्संख्याकाः। स्थेत्यर्थः। यच्छब्दाच्छान्दसो डतिः। अस्तेस्तस्य थनादेशः।

लोट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन के प्रत्यय त के स्थान में वेद में तप्, तनप्, तन और थन—इन चार आदेशों का प्रयोग होता है।- तप् और तनप् पित् (अ-ङित्) प्रत्यय हैं इसलिए अङित् वाले सारे कार्य इनके साथ होंगे। शृणोत=श्रु+लोट् (तप्)। 'श्रुवः शृ च' से शृ आदेश, 'स्वादिभ्यः श्नुः' से श्नु-विकरण, णत्व—शृणु+तप्। प्रत्यय चूँकि अङित् है इसलिए गुण-निषेध नहीं होगा=गुण होगा—शृणोत। (हे पत्थरो ! सुनो।) उसी तरह √सु +तनप्; श्नु विकरण लग कर गुण (पित्, अङित् के कारण)=सुनोतन। √धा+तनप्='जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से श्नु-विकरण और 'श्लौ च' से द्वित्व, अभ्यास कार्य—धा धा तनप्, 'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व (ध का द) और 'ह्रस्वः' से ह्रस्व—द धा तनप्। अब एक सूत्र है—'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) जिसके अनुसार अभ्यस्त धातु के आकार का लोप कित्-ङित्

सार्वधातुक पर में रहने से हो जाता है किन्तु यहाँ तो पित् प्रत्यय है अतः आ-लोप नहीं हुआ—दधातन। (लोक में 'धत्त')। पुनः√जुष्+तन (पित् नहीं)। यद्यपि जुष्-धातु आत्मनेपद है तथापि व्यत्यय से इसमें परस्मैपद किया गया है तथा तन-प्रत्यय लगाया गया है, व्यत्यय से ही श्लु-प्रत्यय हुआ। श्लु के कारण द्वित्व अभ्यासादि कार्य भी होंगे। जु जुष् तन-'ष्टुना ष्टुः' से त का ट—जुजुष्टन। √अस् (होना) से त के स्थान में थन होकर 'स्थन'। अस् त=अस् थन—'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से अस् के अ का लोप—स्थन। यह अकारलोप वहीं होता है जहाँ प्रत्यय ङित् हो। थन प्रत्यय में चूँकि प् का अनुबन्ध नहीं लगाया गया है इसलिए वह अपित् (ङित्) है। यति=जितना (जिस संख्या के)। यद्+(वैदिक-वाहुल्य से) डति प्रत्यय। डित् होने के कारण यद् के अद् अंश का लोप होकर यति। कति=कितना, यदि=जितना। हे विश्वेदेव तथा मरुतो ! तुम लोग जितने हो···।' काशिका में—यदिष्ठन=यदिच्छत।

(१८०) इदन्तो मसि (७।१।४५)। मसीत्यविभक्तिको निर्देशः। इकार उच्चारणार्थः। 'मस्' इत्ययमिकाररूपचरमावयवविशिष्टः स्यात्। मस इगागमः स्यादिति यावत्। नमो भरन्त एमसि (ऋ० १।१।७)। त्वमस्माकं तव स्मसि। इमः, स्मः, इति प्राप्ते।

सूत्र में 'मसि' का प्रयोग बिना कोई विभक्ति लगाये हुए किया गया है जिसमें इ केवल उच्चारण की सुविधा के लिए लगाया गया है। अभिप्राय केवल मस् से है। अर्थ है कि उत्तम पुरुष बहुवचन (लट् लकार) में लगने वाला मस् प्रत्यय वेद में इकार को अपने अन्त में लिए हुए रहता है जिससे वह प्रत्यय का ही चरम अवयव (अन्तिम अङ्ग) समझा जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहे कि मस् प्रत्यय में इक् का आगम होता है (कित् होने से अन्त में आयेगा)। उदाहरण—√इ=जाना, आ+इ+मस् (इ)=एमसि (आगच्छामः)—नमस्कार करते हुए हम आते हैं (ऋ० १।१।७)। लोक√इ से इमः होगा। पुनः √अस्+मस् (इ)=मस् चूँकि अपित् (ङित्) है अतः 'श्नसोरल्लोपः' से अस् का अलोप, स्मसि। तुम हमारे, हम तुम्हारे हैं। संस्कृत में होगा—स्मः।

(१८१) **क्त्वो यक्** (७।१।४७)। दिवं सुपर्णो गत्वाय ।

(१८२) **इष्ट्वीनमिति च** (७।१।४८)। क्त्वाप्रत्ययस्य ईनम-न्तादेशो निपात्यते । इष्ट्वीनं देवान् । इष्ट्वा इति प्राप्ते ।

(१८३) **स्नात्व्यादयश्च** (७।१।४९)। आदिशब्दः प्रकारार्थः। आकारस्य ईकारो निपात्यते। स्विन्नः स्नात्वी मलादिव। पीत्वी सोमस्य वावृधे । स्नात्वा पीत्वा इति प्राप्ते ।

वेद में क्त्वा प्रत्यय को यक् का आगम होता है। कित् होने से अन्त में होगा । गम् + क्त्वा + यक् = गत्वाय । कहीं-कहीं क्त्वा के बाद ईनम् अन्ता-देश होता है जिससे 'इष्ट्वीनम्' शब्द का निपातन होता है। √यज् + क्त्वा (ईनम्)—'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से सम्प्रसारण तथा 'व्रश्चभ्रस्जयज०' आदि से ज के स्थान में ष्—इष् त्वीनम्—'ष्टुना ष्टुः' से त् का ट्—इष्ट्वीनम् । लोक में इष्ट्वा (यज्ञ करके) ।

'स्नात्वी' शब्द की तरह के अन्य शब्द क्त्वा प्रत्यय से बने निपातित होते हैं। यहाँ 'आदि' का अर्थ प्रकार है जिससे केवल आकारान्त के ईकार की रूपसिद्धि होती है—स्ना + क्त्वा = स्नात्वा, स्नात्वी । उसी प्रकार √पा (पीना) से पीत्वा, पीत्वी ।

(१८४) **आज्जसेरसुक्** (७।१।५०)। अवर्णादङ्गात्परस्य जसोऽसुक् स्यात् । देवासः (ऋ० १।३६।४)। ब्राह्मणासः (ऋ० ६।७५।१०)।

(१८५) **श्रीग्रामण्योश्छन्दसि** (७।१।५६)। आमो नुट्। श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम् (ऋ० १०।४५।५)। सूतग्रामणीनाम् ।

अकारान्त शब्द के बाद प्रथमा बहुवचन में लगने वाले जस् प्रत्यय को असुक् (अस्) का आगम होता है। असुक् आगम चूंकि कित् है अतः इसका उपादान अन्त में होगा । और 'देव + जस् + असुक्' = देव + अस् + अस् = देव असस् । 'अकः सवर्णे दीर्घः' से देवासस् और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से स् का विसर्ग (पहले रु होकर)। उसी प्रकार ब्राह्मण + अस् + अस् = ब्राह्मणासः ।

श्री और ग्रामणी शब्दों से वेद में आम् (षष्ठी बहुवचन) लगने पर नुट् का आगम होता है। लोक में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) के द्वारा केवल

ह्रस्वान्त, नदीसंज्ञक तथा आबन्त (आ से अन्त होने वाले) शब्दों के बाद आम् को नुट् होता है। उस सीमा के बाहर श्री और ग्रामणी शब्द हैं जिन्हें वेद में ऐसा होता है। नुट् चूंकि टित् आगम है इसलिये 'आद्यन्तौ टकितौ' से इसे आदि में रखेंगे—श्री+नुट् आम्=श्रीन् आम्। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' और 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से णत्व—श्रीणाम्। नागेश का कहना है कि 'वाऽऽमि' सूत्र के द्वारा श्री शब्द की आम् में विकल्प से नदी संज्ञा होती है। अतः नदी संज्ञा होने पर तो 'श्रीणाम्' बन ही जायगा—सूत्र व्यर्थ का है। दूसरे लोग इसके विषय में कहते हैं कि जहाँ नदी संज्ञा नहीं होती वैसे स्थानों के लिए यह सूत्र है अर्थात् इस सूत्र में श्री को नदी-संज्ञा नहीं माना गया है। ग्रामणी+नुट् आम्+ग्रामणीनाम्। काशिका का कथन है कि 'सूताः च ते ग्रामण्यः च' ऐसा विग्रह करके जब 'सूतग्रामण्यः' शब्द होगा उसी के लिए यह सूत्र है। तब 'सूतग्रामणीनाम्' सिद्ध होगा।

(१८६) **गोः पादान्ते (७।१।५७)**। विद्मा हि त्वा। गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० १०।४७।१)। पादान्ते किम् ? गवां शता पृक्षयामेषु। पादान्तेऽपि क्वचिन्न। छन्दसि सर्वेषां वैकल्पिकत्वात्। विराजं गोपतिं गवाम्।

वैदिक चरण के अन्त में गोशब्द के षष्ठी बहुवचन की विभक्ति आम् को नुट् होता है। अतः गो+नुट् आम्=गोनाम्। यहाँ उदाहरण वैदिक चरण के अन्त का है क्योंकि 'विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्' पूरा चरण है जिसके अन्त में 'गोनाम्' शब्द आया है। पादान्त में इसका प्रयोग नहीं होने पर नुट् नहीं लगता जैसे—गवां शता पृक्षयामेषु। यहाँ गो शब्द पादादि में है अतः सीधे आम् लगकर (गो+आम्—अवादेश) गवाम् बना है। चूंकि वेद में सभी विधियाँ वैकल्पिक हैं अतः कहीं-कहीं पादान्त में भी नहीं होता है जैसे—विराजं गोपतिं गवाम्। यह गायत्री छन्द का एक चरण है, अन्त में होने पर भी नुट् नहीं लगा। सच तो यह है कि जहाँ जैसा रूप देखो वहाँ वैसा ही कर दो।

(१८७) **छन्दस्यपि दृश्यते (७।१।७६)**। अस्थ्यादीनामनङ्। इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ० १।८४।१३)।

(१८८) **ई च द्विवचने** (७।१।७७)। अस्थ्यादीनामित्येव। अ॒क्षीभ्यां॑ ते॒ नासि॑काभ्याम् (ऋ० १०।१६३।१)।

इसके पूर्व में सूत्र है 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङ् उदात्तः' (७।१।७५) जिसका अर्थ है कि अस्थि, दधि, सक्थि (जाँघ) और अक्षि शब्दों को अनङ् आदेश (अंतिम वर्ण के स्थान में—ङित्त्व) होता है यदि बाद में तृतीयादि विभक्तियों का अजादि प्रत्यय आये (अस्थ्ना, दध्ना इत्यादि)। किन्तु वेद में इन शब्दों को अनङ् आदेश कहीं भी हो सकता है। 'छन्दसि च' कहने से काम चल जाता लेकिन 'अपि दृश्यते' इसलिए लगा दिया गया है कि ऊपर के सूत्र की सभी उपाधियाँ (Conditions) व्यभिचरित हों—अजादि प्रत्यय के और हलादि प्रत्यय के पहले भी अनङ् आदेश हो। अस्थि (अनङ्) +भिस्=अस्थन्+भिस्। 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से न् का लोप होकर अस्थ+भिस् बना। नलोप का विधायक सूत्र त्रिपादी में है इस लिए 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' (८।२।२) सूत्र के अनुसार सुप्-विधि के प्रसंग में यह नलोप-शास्त्र असिद्ध हो जायगा। फलतः 'अतो भिस् ऐस्' (७।१।६) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अस्थ को अकारान्त समझकर यदि भिस् को ऐस् करना चाहेंगे तो नलोप असिद्ध हो जायगा—अस्थन् बना रहेगा, अकारान्त रहेगा ही नहीं। अतएव 'अस्थभिः' रूप बनेगा। उसी तरह 'भद्रं पश्येमाक्षभिः' में अक्षिशब्द से 'अक्षभिः' हुआ है।

अस्थि आदि शब्दों का द्विवचन में ई आदेश भी होता है। अतः अक्षि (ई)+भ्याम्=अक्षीभ्याम्। लोक में अक्षिभ्याम्। स्मरणीय है कि अक्षभ्याम् नहीं होगा चूंकि यह ई अनङ् का अपवाद है और अपवाद उत्सर्ग से बलवत्तर होता है—'पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' (परिभाषा)।

(१८९) **दृक्स्ववस्स्वतवसां छन्दसि** (७।१।८३)। एषां नुम् स्यात्सौ। कीदृ॒ङ्ङिन्द्रः॑। स्ववा॑न्। स्वत॑वान्।

(१९०) उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२)। **बहुलं छन्दसि** (७।१।१०३)। तत॒ुरिः। जगु॒रिः प॒राचैः।

वेद में दृक् से अन्त होनेवाले शब्दों तथा स्ववस् और स्वतवस् शब्दों को नुम् का आगम होता है यदि बाद में सु प्रत्यय (प्रथमा एकवचन) हो जैसे

किम्+दृश्+क्विन् (सर्वापहारी लोप)='इदंकिमोरीश्की' (६।३।९०) से किम् का की-आदेश—कीदृश् । अब कीदृनुम् श्+सु (नुम् आगम मित् होने के कारण अन्तिम स्वरवर्ण ऋ के बाद लगा है)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सु का लोप और 'संयोगान्तस्य लोपः' से श् का लोप—कीदृन् । 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' में न् का कुत्व (ङ्)=कीदृङ् । इसमें, कीदृङ्+इन्द्रः='ङमो ह्रस्वादचि ङमुट् नित्यम्' सूत्र लगा तथा ङ का आगम होकर 'कीदृङ्ङिन्द्रः' । स्ववस्+सु=स्ववन्स्+सु=सुलोप, सलोप—स्ववन् । 'सान्तमहतः संयोगस्य' (६।४।१०) से उपधादीर्घ—स्ववान् । स्वतवस्+सु=स्वतवन्स्+सु—स्वतवन्=स्वतवान् ।

जिस धातु के अन्त में ॠ लगा हो तथा ॠ के पहले कोई ओष्ठ्य वर्ण (पवर्ग) हो तो ॠ के स्थान में उत् आदेश हो जाता है । 'उरण्रपरः' से बाद में र् भी हो जायगा । पॄ—पूर्ण, मृ—मुमूर्षति । वेद में ऋकार का उकार बहुल-रूप से होता है, ओष्ठ्यवर्ण यदि पूर्व में नहीं हो तब भी उकार हो जाता है जैसे—तॄ+किन् (आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च ३।२।१७१)—लिट् का अतिदेश होने से अभ्यासकार्य—त तॄ+इ । प्रस्तुत सूत्र से ॠ के स्थान में उ और ऋ के स्थान में अ इ उ होने पर र् लग जाना (उरण् रपरः) त तुर् इ=ततुरिः । तॄ में ॠ दन्त्यपूर्व है फिर भी उ हो गया । उसी प्रकार√गॄ+किन्—ग गुर् इ ('कुहोश्चुः' से ग के स्थान में ज) जगुरिः । उसने पार किया था और आवाज की थी । लोक में ततार, जगार । न् के इत् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' द्वारा आद्युदात्त ।

(१९१) ह्रु ह्वरेश्छन्दसि (७।२।३१)। ह्वरेर्निष्ठायां ह्रु-आदेशः स्यात् । अह्रुतमसि हविर्धानम् ।

(१९२) अपरिह्वृताश्च (७।२।३२)। पूर्वेण प्राप्तस्यादेशस्याभावो निपात्यते । अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम् (ऋ० १।१००।१९)।

(१९३) सोमे ह्वरितः (७।२।३३)। इड्गुणौ निपात्येते । मा नः सोमो ह्वरितः ।

ह्वृ (ह्वर्=कुटिल, भ्वादि) धातु का वेद में निष्ठा-प्रत्यय (क्त-क्तवतु) लगने से ह्रु—आदेश हो जाता है । जैसे—अह्रुतम् । लोक में—अह्वृतम् होना

चाहिए। कहीं-कहीं यह आदेश नहीं होता तथा निपातन से 'अपरिह्वृता' शब्द बन जाता है जिसमें नञ्+परि+√ह्वृ+क्त+जस् जुटते हैं। सोम के विषय में 'ह्वरितः' शब्द इसी धातु से बनता है जिसमें इट् और गुण निपातन से होते हैं—ह्वृ+क्त=(गुण होकर, रपर)—ह्वर्+क्त=इट्—ह्वरितः। धातु को गुण, प्रत्यय को इट् लगा।

(१९४) **ग्रसितस्कभितस्तभितोत्तभितचत्तविकस्ता विशस्तृशंस्तृशास्तृतरुतृतरूतृ वरुतृ वरुतृवरूत्रीरुज्ज्वलितिक्षरितिवमित्यमितीति च (७।२।३४)। अष्टादश निपात्यन्ते। तत्र 'ग्रसु स्कम्भु स्तम्भु' एषामुदित्त्वान्निष्ठायामिट्प्रतिषेधे प्राप्ते इट् निपात्यते। युवं शचीभिर्ग्रसितामंमुञ्चतम्। विष्कभिते अजरे। येन स्वः स्तभितम् (ऋ० १।१२१।५)। सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ० १०।८५।१)। स्तभितेत्येव सिद्धे उत्पूर्वस्य पुनर्निपातनमन्योपसर्गपूर्वस्य मा भूदिति।**

इट् के प्रकरण में यह सूत्र आया है तथा इट् प्रतिषेधक और इट् विधायक सूत्रों के बीच में आने से दोनों की समस्या को लिये हुए है। इसमें वैसे शब्द निपातन से सिद्ध माने गये हैं जो उक्त प्रकार के इट् सूत्रों का उल्लङ्घन करते हैं। अन्य अतिक्रमण भी उनमें हैं। ये अठारह शब्द निपातित होते हैं।

(१—४) ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित—√ग्रसु से ग्रसित, √स्कम्भु—स्कभित, √स्तम्भु—स्तभित, उत्+स्तम्भु—उत्तभित। इन चारों में क्त प्रत्यय लगा है। जिस धातु में उ की इत्संज्ञा (जैसे इन धातुओं में है) हो उससे क्त्वा प्रत्यय होने पर विकल्प से इट् होता है (उदितो वा ७।२।५६) और यदि कहीं भी विकल्प से इट् होना लिखा हो तो क्त-क्तवतु प्रत्यय में तो उस धातु के बाद इट् नहीं ही होगा (यस्य विभाषा ७।२।१५)—अतः उक्त धातुओं में इट् नहीं होना चाहिए। फिर भी बहुल-विधि के कारण इनमें हो गया है—यही निपातन है। ग्रस्+इट् क्त—ग्रसित। तुम दोनों ने शची के द्वारा पकड़ी गई को छोड़ दिया था। स्कम्भु+इट् क्त—'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से नुम् (म्) का लोप—स्कभित। वि+स्कभित—विष्कभित ('वेः स्कभ्नातेर्नित्यम्' से मूर्धन्य)। विष्कभिते अजरे—'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' से प्रकृतिभाव। स्तम्भ्+इट् क्त—नुम् लोप=

स्तभितम् । उद्+स्तम्भ्+इट् क्त=उद्+स्तभित । 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' से स् का थ् में परिवर्तन, क्योंकि स् को त् का सवर्ण होने का विधान है तथा पर शब्द का आदि वर्ण ही सन्धि में काम देता है ('आदेः परस्य')। 'उत् थ तभित' बनकर 'झरो झरि' से थ् का वैकल्पिक लोप हो गया। उत्तभित—पृथ्वी सत्य से ऊँचे उठी है। यद्यपि स्तभित शब्द से ही काम हो जाता है फिर उत्तभित (उद्+स्तभित) को निपातन से सिद्ध करने से क्या लाभ है? तथ्य यह है कि स्तभित शब्द केवल उद्—उपसर्ग के साथ ही देखा जाता है, अन्य उपसर्गों के साथ नहीं। यह विधान निषेध के लिए है (Inclusion is for exclusion)। लोक में इन शब्दों का क्रमशः ग्रस्त, स्कब्ध, स्तब्ध और उत्तब्ध होता है।

'चते' याचने, 'कस' गतौ। आभ्यां क्तस्य इडभावः। चत्तो इतश्चत्तामुतः (ऋ० १०।१५५।२)। त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तम्। उत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्। निपातनं बहुत्वापेक्षं सूत्रे बहुवचनं 'विकस्ता' इति। तेनैकवचनान्तोऽपि प्रयोगः साधुरेव। 'शसु' 'शंसु' 'शासु'—एभ्यस्तृच इडभावः। एकस्त्वष्टुरश्वस्याविशस्ता (ऋ० १।१६२।१९)। ग्रावग्राभ उत शंस्ता। प्रशास्ता पोता। तरतेर्वृङ्वृञोश्च तृच उट् ऊट् एतावागमौ निपात्येते। तरुतारं रथानाम्। तरूतारम्। वरुतारम्—वरूतारम्। वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु। अत्र ङीबन्तनिपातनं प्रपञ्चार्थम्। वरूतृशब्दो हि निपातितः। ततो ङीपा गतार्थत्वात्॥

(५–६) चत्त, विकस्त—√चत्=माँगना, √कस्=जाना। इन दोनों धातुओं से क्त प्रत्यय होने पर इट् लगना चाहिए क्योंकि सूत्र है 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५)। लेकिन वेद में इट् का अभाव है—यही निपातन का रहस्य है। अतः चत्+क्त=चत्त। 'यहाँ माँगा, वहाँ माँगा।' वि+कस्+क्त=विकस्त। यहाँ सूत्र में विकस्ता का प्रयोग बहुवचन में किया है कि ग्रसित आदि निपातनों का समाहार हो। यह न समझें कि यह बहुवचन में निपातित ही है—क्त-प्रत्ययान्त निपातन यहाँ पर समाप्त हो जाते हैं अतः समाहार (संग्रह) के लिए बहुवचनान्त प्रयोग हुआ है।

लोक में चतितः विकसितः—ये रूप होंगे। विकस्त का एकवचन में प्रयोग भी ठीक ही है।

(७–९) विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ—वि+√शसु+तृच्=विशस्तृ,√शंसु+तृच्=शंस्तृ,√शासु+तृच्=शास्तृ। इन धातुओं में तृच् प्रत्यय लगने पर इट् होना चाहिए (आर्धधातुकस्येड्वलादेः) किन्तु निपातन से नहीं हुआ। 'एक तो त्वष्टा के घोड़े का प्रशंसक है' (विशस्ता)। शंस्ता (प्रशंसक), शास्ता (शासक)। लोक में—विशसिता, शंसिता, शासिता।

(१०–१४) तरुतृ, तरूतृ, वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः—इनमें तृच् प्रत्यय लगा है। किन्तु उट् और ऊट् का आगम हो गया है (इट् के स्थान में)। √तॄ +उट् तृच्+सु=तरुता (पार करने वाला), ऊट् होने से—तरूता। वृङ् (या वृञ्)+उट् तृच्=वरुता, वरूता। द्वितीया ए० में तरुतारम् वरुतारम् आदि। वरूतृ+ङीप् (ऋन्नेभ्यो ङीप्)—वरूत्री। इसकी सिद्धि यद्यपि वरूतृ शब्द के साथ हो जाती है परन्तु पृथक् निर्देश केवल विस्तार-प्रदर्शन के लिए है। लोक में इट् लगने से तरिता, वरिता। किन्तु 'वॄतो वा' (७।२।३८) से दीर्घ भी हो सकता है अतः तरीता, वरीता तथा वरित्री, वरीत्री।

उज्ज्वलादिभ्यश्चतुर्भ्यः शप इकारादेशो निपात्यते। 'ज्वल' 'दीप्तौ'; 'क्षर संचलने', 'टुवम् उद्गिरणे'। 'अम गत्यादिषु'। इह क्षरिती-त्यस्यानन्तरं क्षमितीत्यपि केचित्पठन्ति। तत्र 'क्षमूष् सहने' इति धातुर्बोध्यः। भाषायां तु ग्रस्त-स्कब्ध-स्तब्धोत्तब्धचतित-विकसिताः। विशसिना। शंसिता। शासिता। तरीता-तरिता। वरीता-वरिता। उज्ज्वलति, क्षरति। पाठान्तरे–क्षमति (? क्षमते)। वमति, अमति॥

(१५–१८) उज्ज्वलिति, क्षरिति, वमिति, अमिति—इन सबों का निपातन शप् के स्थान में इ का आदेश होने के कारण हुआ है। उत्+ज्वल +शप् (इ) ति=उज्ज्वलिति। क्षर्+शप् (इ) ति=क्षरिति। वम्+ति= वमिति। अम्+ति=अमिति। ज्वल्=जलना, क्षर्=चलना, वम्=उगलना, अम्=जाना। यहाँ क्षरिति के बाद कुछ लोग क्षमिति शब्द का भी पाठ मानते हैं जो काशिका से अनुमोदित है। वैसी स्थिति में क्षम् धातु से

शप् के स्थान में इकारादेश मानकर क्षमिति रूप बनायेंगे। लोक में उपर्युक्त शब्दो के रूप दिये गये हैं—उज्ज्वलति, क्षरति, वमति, अमति। यदि क्षमिति का पाठान्तर माने तो क्षमति रूप होगा—दीक्षित और काशिकाकार का भी 'क्षमति' रूप कहना आश्चर्यंकर प्रतीत होता है। क्योंकि लोक में क्षमूष् भ्वादि आत्मनेपद है अतः 'क्षमते' रूप होगा। सम्भव है सादृश्य (Analogy) के चलते दोनों ही भ्रान्त हो गये हों।

(क) बभूथाऽऽततन्थ जगृम्भववर्थेति निगमे (७।२।६४)। विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ। येनान्तं रिक्षमुर्वाततन्थ। जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम् (ऋ० १०।४७।१)। त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थं। भाषायां तु बभूविथ, आतेनिथ, जगृहिम, ववरिथेति॥

यद्यपि यह सूत्र सिद्धान्तकौमुदी के लौकिक-खण्ड में आ चुका है फिर भी वैदिक निपातन से सम्बन्ध होने के कारण इसे पुनः वैदिक-खण्ड में दिया गया है। इसमें लिट् लकार के कुछ रूप निपातन से सिद्ध माने गये हैं। जिनमें इट् लगना आवश्यक था, उनमें इट् नहीं लगा है। ये शब्द हैं—बभूथ, आततन्थ, जगृम्भ, ववर्थ। (१) बभूथ—आ + √भू + लिट् थल्—द्वित्व, अभ्यास—आ भू भू थ। अब 'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व, तथा 'भवतेरः' अकार होकर आ ब भू थ='आबभूथ' हो गया। लोक में 'भुवो वुक् लुङ्लिटोः' से वुक् आगम तथा आर्धधातुक (थल्) को इट् आगम होकर 'आबभूविथ' होना चाहिये। विद्मा तमुत्सं यत आबभथ=हम उस स्रोत को जानते हैं जहाँ से उत्पन्न हुए हो। ऋग्वेद (१०।४५।२) में पाठ है—विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ=जहाँ से आये हो। तदनुसार 'आजग्मिथ' के स्थान में 'आजगन्थ' का प्रयोग है। (२) आततन्थ—आ + √तन् + लिट् (थल्)—द्वित्व, अभ्यास कार्यादि होकर आ त तन् थ=आततन्थ। लोक में 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४।१२०) से अकार को ए तथा अभ्यास लोप होकर 'आतेन् थ' तथा इट् होकर आतेनिथ होता है। (३) जगृम्भ—√ग्रह् + लिट् (म)—द्वित्व, अभ्यासकार्य 'ज ग्रह म'। 'ग्रहिज्यावयिव्यधि—' (६।१।१६) से सम्प्रसारण क्योंकि म-प्रत्यय ङित् है—ज गृह् म। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' से ह् का भ् और स्थानव्यत्यय—जगृम्भ। यदि स्थानव्यत्यय नहीं मानें तो

'जगृम्भ' पाठ रखना पड़ेगा। लोक में इट् होकर—'जगृहिम' होता है। (४) ववर्थ—√वृ+लिट् (थल्)—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, द्वित्व, अभ्यासकार्य—व वर् थ=ववर्थ। लोक में इट् होकर ववरिथ। इस प्रकार लोक में जहाँ इट् होता है, वेद में नहीं हुआ।

(१९५) **सनिंससनिवांसम्** (७।२।६९)। सनिमित्येतत्पूर्वात्सनतेः सनोतेर्वा क्वसोरिट् एत्वाभ्यासलोपाभावश्च निपात्यते। (अग्निजत्वाऽग्ने सनिंससनिवांसम्)॥

(क) **पावकादीनां छन्दसि प्रत्ययस्थात्कादित्वं नेति वाच्यम्** (७।३।४५ वा०)। हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः॥

वेद में 'सनिंससनिवांसम्' शब्द की सिद्धि निपातन से होती है। 'सनिम्' शब्द पूर्व में रहता है जिसके बाद सन् धातु (षण संभक्तौ भ्वादि) या षणु धातु (दाने तनादि) से क्वसु-प्रत्यय होता है। सनिम्+√सन्+क्वसु। यहाँ क्वसु होने से सामान्यतया इट् नहीं होना चाहिये क्योंकि सूत्र है—नेड्वशि कृति (७।२।८), किन्तु वेद में इट् निपातन से लग गया है। यही नहीं, सामान्यतः यहाँ 'अत एकहल्मध्ये०' से एकार और अभ्यास का लोप होना चाहिये था। किन्तु निपातन से वह लुप्त हो गया अतः निपातन से यहाँ तीन क्रियायें हुईं—इट्, एकार का अभाव और अभ्यास लोप का अभाव। अब सनिम्+√सन्+क्वसु (लिट् के स्थान में होने से लिट्वत् कार्य होंगे)—सनिम्+सन् सन् इट् वस्—अभ्यासकार्य होकर सनिंससनिवस्। द्वितीया एकवचन में अम् लगने पर—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।८०) से नुमागम तथा 'सान्तमहतः संयोगस्य' (६।४।१०) से उपधादीर्घ होकर—सनिंससनिवांसम्। सनिम् पूर्व में नहीं रहे या लोक में प्रयोग यदि हो तो सेनिवांसम्।

सप्तम अध्याय के तृतीय-पाद में ४४ वें सूत्र में (प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः) में प्रत्ययस्थ क के बाद यदि आप् प्रत्यय हो तो क के पूर्व वाले अकार को इकार हो जाता है जैसे—कारक से कारिका। इस पर कहे गये वार्तिक का नियम है कि वेद में पावक इत्यादि शब्दों में प्रत्ययस्थ क के पूर्व अकार को इकार नहीं होता जैसे—पावकः पुंल्लिग रूप है, इसके स्त्रीलिङ्ग

में 'पाविका' न होकर पावकाः हो जाता है। शुचयः, पावकाः, हिरण्यवर्णाः आदि सभी आपः के विशेषण हैं जो स्त्रीलिङ्ग हैं।

(१९६) **घोर्लोपो लेटि वा** (७।३।७०)। दध॒द्रत्नानि दा॒शुषे। सोमो॑ दद॒द् गन्ध॒र्वाय॑ (ऋ० १०।८५।४१)। यद॒ग्निर॒ग्नये॑ ददात्।

(१९७) **मीनातेर्निगमे** (७।३।८१)। शिति ह्रस्वः। प्रमि॒णन्ति॑ व्र॒ताति॑ (ऋ० १०।१०।५) लोके–प्रमीणन्ति ॥

घुसंज्ञक (√दा और √धा) धातुओं के अन्तिम वर्ण (आ) का लोप लेट् लकार में विकल्प से हो जाता है। अतः दधत्, ददत् आदि में आकार का लोप हो गया है, दधात्, ददात् में नहीं। धा+लेट् (तिप्)=जुहोत्यादि होने के कारण श्लु, अभ्यासकार्य, ह्रस्व—द धा ति=आकारलोप होकर 'लेटोऽडाटौ' से अट् तथा 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' से इ का लोप—दधत्। ददत् की सिद्धि भी इसी प्रकार आकारलोप होने से होगी। आकारलोप न होने पर ददात्। ददात् तथा दधात् में भी आकारलोप मान सकते हैं किन्तु अट् के स्थान में आट् मानना पड़ेगा—द द्+आट्+तिप् (त्)=ददात्। वह दाता यजमान को धन दे (रत्न=धन), सोम गन्धर्व को दान दे, जब अग्नि अग्नि को दें।

वेद में √मीञ् (हिंसा करना, क्र्यादि) के दीर्घ ईकार को ह्रस्व हो जाता है यदि बाद में शित् (श् को लुप्त करने वाला) प्रत्यय आये। मी धातु क्र्यादि है अतः श्ना विकरण होगा—प्र+√मी+श्ना+लट् (झि—अन्ति) 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से श्ना के आ का लोप=प्र मी न् अन्ति—ह्रस्व होकर तथा 'हीनुमीना' (८।४।१५) से णत्व—प्रमिणन्ति। संस्कृत में ह्रस्व नहीं होता अतः प्रमीणन्ति।

(१९८) **अस्तिसिचोऽपृक्ते** (७।३।९६)। **बहुलं छन्दसि** (७।३।९७)। सर्वंमा इदम् (ऋ० १०।१२९।३)। आसीदिति प्राप्ते। (अस्तेर्लङ् तिप्। ईडभावः, अपृक्तत्वाद् हल्ङ्यादिलोपः। रुत्व-विसर्गौ। संहितायां तु 'भो भगो—' इति यत्वम्। 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपः। गोभि॒रक्षाः (ऋ० ९।१०७।९)। सिच इडभावश्छा-न्दसः। अट्। शेषं पूर्ववत्)।

(क) ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८) । जसि च (७।३।१०९) । **जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः (वा०)। अधा शतक्रत्वो यूयम् ।** शतक्रतवः । पश्वे नृभ्यो यथा गवे । पशवे ।

(ख) नाभ्यस्तस्याचि (७।३।८७) **इति निषेधे बहुलं छन्दसीति वक्तव्यम् (वा०)।** आनुषग्जुजोषत् ॥

लोक में √अस् तथा सिजन्त (लुङ् का सिच्) के बाद अपृक्त सार्व-धातुक प्रत्यय को ईट् का आगम होता है किन्तु वेद में यह विधि वैकल्पिक है। √अस्+लङ् (तिप्)—ईट् का नहीं होना। आट् का आगम (आड-जादीनाम्)—आट् अस्+तिप् (त्)=आस् त्—'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' से तलोप, स् का रु और विसर्ग होकर 'आः' (=आसीत्)। सर्वम् आः (आसीत्) इदम् । 'आः+इदम्' संहिता पाठ में 'भोभगो अघो अपूर्वस्व योऽशि' से य् (रु के स्थान में) तथा 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार का लोप—आ इदम् (सब कुछ यही था)। गोभिः+अक्षाः—√क्षि+लुङ् (सिप्)=अट्+क्षि+सिच्+सिप् । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से वृद्धि, ईट् का अभाव=अ क्षै स् (अन्तिम स् का हल्ङ्यादि लोप)। सिच् में होने वाले इट् के आगम का भी वैदिक प्रकरण होने के कारण अभाव हो गया। इट् न होने पर भी उसे स्थित मानकर क्षै को 'एचोऽयवायावः' से क्षाय् कर दिया—अब अक्षाय् स् हो गया—'लोपो व्योर्वलि' से य् का लोप करने पर 'अक्षास्' तथा रुत्व-विसर्ग करके 'अक्षाः' रूप बना।

ह्रस्वान्त-अङ्ग का जस् प्रत्यय पर में होने से गुण हो जाता है जैसे—साधु+जस्=साधो+अस्=साधव्+अस—साधवः। यह विधान केवल लोक के लिये है। वेद के लिये तो सभी विधियाँ वैकल्पिक ही रहती हैं। इसे ही वार्तिक में स्पष्ट किया गया है। षष्ठ अध्याय में 'वा-छन्दसि' सूत्र (६।१।१०६) है जिसके द्वारा पूर्वसवर्णदीर्घ न होने का वैकल्पिक विधान किया है, इस सूत्र का अधिकार 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) तक मानना चाहिये जिससे सुबन्त-रूप के सभी विधान वेद में वैकल्पिक हो जायें। चूंकि प्रस्तुत 'जसि च' (७।३।१०९) इन दोनों के क्षेत्र में ही है अतः उक्त वार्तिक (जसादिषु०) से यह भी वैकल्पिक ही होगा। अतएव—शतक्रतु+जस्

करने पर गुण विकल्प से हुआ, नहीं होने पर यण् विकार से सन्धि होगी— उ के स्थान में व्। शतक्रत्व् अस्—रुत्व विसर्ग करके 'शतक्रत्वः'। गुण होने पर लोकवत् शतक्रतवः होगा। उसी प्रकार पशु+ङे करने पर 'घेर्ङिति' (७।३।१११) से गुण हो जाना चाहिये तथा पशो+ए=पशवे होना चाहिये (जैसा लोक में होता है) परन्तु इसे भी वैकल्पिक कर देने से पशु+ए— यण् होकर 'पश्वे'।

लोक में अभ्यस्त-संज्ञक अङ्ग को यदि उसकी उपधा में लघुवर्ण हो तो उसके वाद अजादि-पित्-सार्वधातुक रहने पर गुण नहीं होता है—इस निषेध को वार्तिक में वेद के लिए वैकल्पिक कर दिया गया है।√जुष् (प्रीति, सेवा) यद्यपि तुदादि है पर वेद में जुहोत्यादि मानकर इसे अभ्यस्त कर दिया— जुष्+श्लु+लेट् तिप्—अट् का आगम लेट् में। जु जुष्+अट् तिप् (त्, इ का लोप)। यहाँ अजादि पित् सार्वधातुक पर में है, वेद में गुण हो गया— जु जोष् अत्=जुजोषत् (सेवा करे)।

(१९९) नित्यं छन्दसि (७।४।८)। छन्दसि विषये (णौ) चङ्युपधाया ऋवर्णस्य ऋन्नित्यम्। अवीवृधत्॥

इसके पूर्व में (७।४।७) सूत्र है 'उर्ऋत्' जिसके अनुसार णिच् प्रत्यय के बाद चङ् लगने पर धातु की उपधा के ऋकार के स्थान में विकल्प से ऋ होता है नहीं तो कहीं इर् (अचिकीर्त्तत्), कहीं अर् (अववर्तत्) और कहीं आर् (अममार्जत्) भी होते हैं—अचीकृतत्, अवीवृतत्, अमीमृजत् आदि में ऋ भी हो सकता है, यह दिखलाया गया है। लेकिन वेद में नित्य ही ऋकार होता है, 'अन्य आदेश नहीं। √वृध्+णिच्+लुङ् (तिप्)= अट्+वृध्+णिच्+चङ् त्। चङ् के कारण ('चङि' ६।१।११) द्वित्व अभ्यासकार्य अट् वृ वृध् अ त्='उरत्' तथा 'उरण् रपरः' से अभ्यासस्थ ऋ के स्थान में अर् तथा 'हलादि शेषः' से केवल व बचना अ व वृध् अत् (इसी सूत्र से धातु की उपधा में ऋ रह जाना)। सन्वल्लघुनि चङ्परेऽन- ग्लोपे (७।४।९३) से सन्वद् भाव=सन् लगने पर जो कार्य होते हैं वैसा होना—अर्थात् 'सन्यतः' से अ के स्थान में इ—अविवृध् अत्। 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ—अवीवृधत्। लोक में 'उर्ऋत्' से विकल्पतः अवीवृधत् तथा अववर्धत् दोनों रूप होंगे।

(२००) **न छन्दस्यपुत्रस्य** (७।४।३५)। पुत्रभिन्नस्यादन्तस्य क्यचि ईत्वदीर्घौ न। मित्रयुः। 'क्याच्छन्दसि' (३।२।१७०)—इति उः। अपुत्रस्य किम् ? पुत्रीयन्तः सुदानवः (ऋ० ७।९६।४)।

(क) **अपुत्रादीनामिति वाच्यम्** (वा०)। जनीयन्तोऽन्वग्रवः। जनमिच्छन्त इत्यर्थः॥

अकारान्त शब्द को क्यच्-प्रत्यय (सुपः आत्मनः क्यच् ३।१।८) होने पर संस्कृत में 'क्यचि च' (७।४।३३) से ईकार हो जाता है जैसे—पुत्रीयति। अशन, धन आदि शब्दों में निपातन से दीर्घमात्र होता है—अशनायति, धनायति। वेद में पुत्र शब्द को छोड़ कर अन्य शब्दों में न तो ईकार होता न दीर्घ ही—शब्द अपने मूलरूप में ही क्यच् प्रत्यय लेता है। हाँ, शब्द को अकारान्त होना आवश्यक है। क्यच् प्रत्यय में निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—(१) इच्छ् (इष्) धातु का प्रयोग, (२) इष् धातु का कर्म सुबन्त होना, (३) इस कर्म को आत्म-सम्बन्धी होना। अतः मित्रम् (२) आत्मनः (३) इच्छति (१)—मित्र+क्यच्=मित्रय् (मित्रीय् नहीं) 'क्याच्छन्दसि' से क्यच् के बाद वैदिक-प्रत्यय उ लाया। मित्रय्+उ=मित्रयुः। पुत्र शब्द का निषेध इसलिए किया गया है कि इसमें लोक की भाँति ही क्रियायें होती हैं। पुत्र+क्यच्+शतृ—पुत्रीयत्, पुं० प्र० बहु० में पुत्रीयन्तः।

वार्तिककार का कहना है कि केवल पुत्र-शब्द को अपवाद में देने से काम नहीं चलेगा पुत्रादि शब्द कहें। क्योंकि जन-शब्द से भी—जनमात्मनः इच्छन्ति जनीयन्ति। शतृ होने से जनीयन्तः। 'अपुत्रस्य' पद रखने पर अव्याप्ति-दोष होता है उसे रोकने के लिए 'अपुत्रादेः' कहना होगा—हरदत्त (पदमञ्जरी)।

(२०१) **दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति** (७।४।३६)। एते क्यचि निपात्यन्ते। भाषायां तु उप्रत्ययाभावात्—दुष्टीयन्ति, द्रविणीयति, वृषीयति, रिष्टीयति॥

निम्नलिखित चार शब्द निपातन से क्यच्-प्रत्यय में सिद्ध होते हैं—(१) दुरस्युः—दुष्ट शब्द का दुरस् आदेश+क्यच्+उ, (२) द्रविणस्युः—द्रविण शब्द के स्थान में द्रविणस्+क्यच्+उ; (३) वृषण्यति=वृष शब्द

के स्थान में वृषन्+क्यच्+तिप्, न का ण् 'अट्कुप्वाङ् नुम्व्यवायेऽपि से, (४) रिषण्यति=रिष्ट शब्द के स्थान में रिषन्+क्यच्+तिप्। संस्कृत में तो उ प्रत्यय होता ही नहीं, अतः इनके रूप इस प्रकार होंगे—दुष्ट+क्यच्–'क्यचि च' से ईकार=दुष्टीयति। द्रविण–द्रविणीयति। वृष–वृषीयति। रिष्ट—रिष्टीयति। इनके अर्थ हैं—दुष्टमात्मन इच्छति (अपने को दुष्ट बनाना चाहता है) इत्यादि। दुरस्यु=दुष्ट होने का इच्छुक। द्रविणस्यु=धन का इच्छुक। इनके अर्थों में तृच् प्रत्यय लग सकता है—दुष्टीयिता, द्रविणीयिता।

(२०२) अश्वाघस्यात् (७।४।३७)। अश्व अघ इत्येतयोः क्यचि आत्स्याच्छन्दसि। अश्वायन्तो मघवन् (ऋ० ७।३२।२३)। मा त्वा वृका अघायवः। 'न छन्दसि' (२००) इति निषेधो नेत्त्वमात्रस्य किन्तु दीर्घस्यापीति। अत्रेदमेव ज्ञापकम्॥

अश्व और अघ—इन दो शब्दों को क्यच् लगने पर आकार आदेश वेद में होता है। आत्मनः अश्वमिच्छन्ति—अश्व+क्यच्=अश्वाय्+शप् लट् (शतृ)=अश्वायत्+जस् (पुं० प्रथमा बहु०)=अश्वायन्तः। हे दानी अश्व के इच्छुक (तेरे यजमान···)। अघं परेषामिच्छन्ति (छन्दसि परेच्छायां क्यच् उपसंख्यानम्—से दूसरे की इच्छा में भी क्यच् होता है)=अघ+क्यच्+उ=अघाय् उ=अघायु, बहु० में अघायवः। गीता में भी 'अघायुरिन्द्रियारामो' (३।१६) में वैदिक-रूप से अघायुः का प्रयोग हुआ है।

ऊपर 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (२००) सूत्र में ईकार और दीर्घ दोनों का निषेध किया गया है—'क्यचि च' (७।४।३३) से ईकार, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) से दीर्घ—इन दोनों का निषेध इस सूत्र में किया गया है। यह बात हमें 'अश्वाघस्यात्' सूत्र के पृथक् विन्यास से ही विदित होती है। 'अकृत्सार्वधातुकयोः दीर्घः' से ही अश्व, अघ दोनों शब्दों में दीर्घ हो जाता तथा 'अश्वाघस्यात्' व्यर्थ हो जाता। परन्तु इस सूत्र को सार्थक करने का एकमात्र यही उपाय है कि 'न छन्दसि०' में न केवल 'क्यचि च' का (ईकार का), प्रत्युत 'अकृत्सार्व०' (दीर्घ) का भी निषेध मानें। निषेध मान लेने

पर, अपवाद के रूप में अश्व और अघ शब्दों को आकार आदेश किया गया है और इस प्रकार यह सूत्र सार्थक हो जाता है।

(२०३) **देवसुम्नयोर्यजुषि काठके** (७।४।३८)। अनयोः क्यचि आत्स्याद्, यजुषि कटशाखायाम्। देवायन्तो यजमानाः। सुम्नायन्तो हवामहे। इह यजुःशब्दो मन्त्रमात्रपरः, किन्तु वेदोपलक्षकः। तेन ऋगात्मकेऽपि मन्त्रे यजुर्वेदस्थे भवति। किं च ऋग्वेदेऽपि भवति, स चेन्मन्त्रो यजुषि कठशाखायां दृष्टः। यजुषीति किम्? देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (ऋ० ३।२७।१)। बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा, ततो भवति प्रत्युदाहरणम्—इति हरदत्तः।

यजुर्वेद की कठशाखा में (शाखाओं के लिए किसी 'वैदिक-साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ का अवलोकन करें) देव और सुम्न शब्द को क्यच् प्रत्यय लगने पर आकारादेश होता है। देव+क्यच्+शतृ—देवायत्, पुं० प्र० बहु० में देवायन्तः। सुम्न+क्यच्+शतृ=सुम्नायन्तः। यहाँ पर यजुः-शब्द न केवल यजुर्वेद के मन्त्रों का द्योतक है प्रत्युत पूरे वेदमात्र का ही बोधक है। इसलिए ऋचा के रूप में (ऋग्वेद से लिये गये) जो मन्त्र यजुर्वेद में हैं उनमें भी यह नियम प्राप्त होता है। यही नहीं, ऋग्वेद में यह नियम उन मन्त्रों में लगता है जो यजुर्वेद की कठशाखा में दृष्टि-गोचर होते हैं। इस प्रकार इस नियम के तीन स्थान हैं—(१) वे मंत्र जो केवल यजुर्वेद में हैं, (२) यजुर्वेद में उन मंत्रों में जो ऋग्वेद के हैं तथा (३) ऋग्वेद में उन मंत्रों में जो यजुर्वेद (कठशाखा) में भी मिलते हैं। (२) और (३) एक ही हैं केवल स्थान का भेद है। (२) में यजुर्वेद में होता है, (३) में ऋग्वेद में।

यजुर्वेद का प्रयोग क्यों किया? अन्यत्र (ऋग्वेद आदि में) आकारादेश नहीं होगा। जैसे—सुम्नयुः=सुम्न+क्यच्+उ। हरदत्त एक वचित्र दृश्य रखते हैं कि ऋग्वेदियों की भी कठशाखा है—उसमें से प्रत्युदाहरण लिया गया है। यह तथ्य तो आश्चर्यजनक है। यजुषि किम् का अभिप्राय है यजुषि काठके किम्? कठशाखा केवल यजुर्वेद की ही है। कठशाखा से भिन्न शाखा

वाले यजुर्वेद में भी ऐसा नहीं होता। 'सुम्नयुः' उदाहरण कठशाखा का नहीं ऋग्वेद का ही है (शाकल शाखा का)।

(२०४) **कव्यध्वरपृतनर्यचि लोपः** (७।४।३९)। [कवि अध्वर पृतना] एषामन्त्यस्य लोपः स्यात् क्यचि ऋग्विषये। सुपूर्वंया निविदां कव्यतायोः (ऋ० १।९६।२)। अध्वर्युं वा मधुपाणिम् (ऋ० १०। ४१।३)। दमयन्तं पृतन्युम्।

(२०५) दधातेर्हिः (७।४।४२), जहातेश्च क्त्वि (७।४।४३)। **विभाषा छन्दसि** (७।४।४४)। हित्वा शरीरम्। हात्वा वा (हीत्वेत्यपि पाठः)।

ऋग्वेद में कवि, अध्वर और पृतना शब्दों के बाद क्यच्-प्रत्यय लगने से अन्तिम वर्ण का लोप हो जाता है। कवि+क्यच्—इ का लोप होने पर= कव्यति। लोट् मध्यमपुरुष बहु० में कव्यत। कव्यत+आयोः=कव्यतायोः। (लोक में कवीयत)। अध्वर+क्यच्+उ=अध्वर्युः। पृतना (सेना)+ क्यच्+उ=पृतन्युम् (सेनाभिलाषिणम्)।

लोक में√धा को हि-आदेश होता है यदि पर में तकरादि कित् प्रत्यय हो। √हा को क्त्वा पर में होने से हि-आदेश होता है। वेद में ये दोनों वैकल्पिक हैं—√हा+क्त्वा=(हि आदेश करने से) हित्वा, हि आदेश नहीं होने पर हात्वा (काशिका)। 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से ईकार होने पर—हीत्वा (सुबोधिनी)। हात्वा में 'घुमास्थागापा०' का विधान वैदिक-बाहुल्य के कारण नहीं हुआ।

(२०६) **सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च** (७।४।४५)। सु वसु नेम एतत्पूर्वस्य दधातेः क्तप्रत्यये इत्त्वं निपात्यते। गर्भं माता सुधितं वक्षणासु। वसुधितमग्नौ। नेमधिता न पौंस्या। क्तिन्यपि दृश्यते। उत श्वेतं वसुधितिं निरेके। धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते। धत्स्वेति प्राप्ते। सुरेता रेतो धिषीय। आशीर्लिङ् इट्। 'इटोऽत्' (३।४।१०६) धासीय इति प्राप्ते।

इस प्रकरण में इन पाँच शब्दों की सिद्धि निपातन से होती है—सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व, धिषीय। इनमें प्रथम तीन शब्दों में√धा के

आकार को क्त लगने पर इकार हो गया है जब कि पूर्व में क्रमशः सु, वसु और नेम शब्द हों। √धा के बाद क्त लगने पर लोक में 'दधातेर्हिः' (७।४।४२) से हि आदेश (अन्त में हितः) हो जाता है। उसी का व्यतिक्रम यहाँ देखने में आता है—सु+धा+क्त=सुधितम्, वसु+धा (इ)+क्त=वसुधितम्, नेम (=आधा)+धा+क्त=नेमधितम्। लोक में—सुहितम्, वसुहितम्, नेमहितम्। हरदत्त वसुधित और नेमधित दोनों को कर्मधारय समास मानते हैं—वसु (धनं) च तद् हितं च (=हितकर धन), नेम (अर्धं) च तद् धितं च (अर्धगृहीत)। यह नागेश से भी अनुमोदित है किन्तु सायण ने इसे 'वसूनां धातारं प्रदातारम्' कहकर शायद षष्ठी तत्पुरुष माना है—'शायद' इसलिए कि उन्होंने व्याख्या की है, समास-विग्रह नहीं किया है। वक्षणा=पेट। क्तिन् प्रत्यय का भी प्रयोग देखते हैं—वसु+धा+क्तिन्= वसुधितिः। लोक में 'वसुहिति'।

धिष्व और धिषीय की सिद्धि में भी √धा को इकारादेश होता है जब इसके बाद क्रमशः लोट् मध्यम० एक० (आत्मनेपद) का प्रत्यय 'स्व' तथा आशीर्लिङ् उत्तम० एक० (आत्मनेपद) का प्रत्यय 'सीय' लगता है। अतः √धा+लोट् (थास्)=धि+से ('थासः से' ३।४।८०)=धि+स्व ('सवाभ्यां वामौ' ३।४।९१ से एकार के स्थान में व=स्व=स्व)। 'इण्कोः' तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से ष् होने पर 'धिष्व'। लोक में √धा+स्व करने पर 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) से अभ्यस्त धातु धा के आ का लोप, क्योंकि पर में कित् (अपित् सार्वधातुकं) प्रत्यय स्व है। अब अभ्यासादि कर्म करने पर दध् स्व हुआ, किन्तु 'दधस्तथोश्च' (८।२।३८) से इसका भष् भाव (द के स्थान में ध) हो गया—धध् स्व और 'खरि च' (८।४।५५) से चर्—धत् स्व='धत्स्व' होता है (=धारय)। धिषीय में √धा+ आशीर्लिङ् (इट्=उत्तम० एक० आत्मने०)=धा+अत् (इटोऽत् ३।४।१०६ से इट् के स्थान में अत्)। अब 'लिङः सीयुट्' (३।४।१०२) से सीयुट् का लिङ् प्रत्यय के आदि में आगम होकर—धा+सीयुट्+अत्। उ और ट् का इत्संज्ञक लोप—धा का धि में निपातन से परिवर्तन=धिसीय् अ। 'आदेशप्रत्यययोः' से ष्—धिषीय। लोक में 'धासीय' (मैं धारण करूँ)।

(क) अपो भि (७।४।४८)। **मासश्छन्दसीति वक्तव्यम्** (वा०)। माद्भिः शरद्भिः।

(ख) **स्ववःस्वतवसोरुषसश्चेष्यते** (वा०)। स्ववद्भिः। अवतेरसुन्। शोभनमवो येषां तैः। तु इति सौत्रो धातुः। तस्मादसुन्। स्वं तवो येषां तैः स्वतवद्भिः। समुषद्भिरजायथाः (ऋ० १।६।३।)। मिथुनेऽसिः (उणादिसू० ६६२)। वसेः किच्चेत्यसि प्रत्यय इति हरदत्तः। पञ्चपादीरीत्या तु 'उषः कित्' (उ० सू० ६७३) इति प्राग्व्याख्यातम्।

भ से आरम्भ होने वाले प्रत्यय (भ्याम्, भिस्, भ्यस्) यदि पर में हों तो अप् शब्द (जल) को तकार आदेश होता है (जैसे—अद्भिः)। वेद में मास् शब्द की भी यही गति होती है—मास के स्थान में 'पद्दन्नोमास्०' (६।१।६३) से मास् आदेश। मास्+भिः=मात्+भिः, 'झलां जश् झशि' से द्—माद्भिः।

स्ववस्, स्वतवस् तथा उषस् शब्दों को तकारादेश होता है यदि पर में भकारादि प्रत्यय हों। √अव् (रक्षा करना)+असुन्=अवः। सु+अवः=स्ववस् (जिसकी रक्षा उत्तम हो)+भिः=स्ववत्+भिः=स्ववद्भिः। √तु केवल सूत्र में आने वाला धातु है उसमें असुन् प्रत्यय लगने पर तवस्। स्वतवस्+भिः=स्वतवद्भिः। समुषद्भिः अजायथाः (अपने साथियों के साथ उत्पन्न हुए हो)। उषस्+भिः=उषद्भिः। समुषद्भिः। उषस् शब्द की व्युत्पत्ति में हरदत्त (पदमञ्जरीकार) कहते हैं कि 'मिथुनेऽसिः पूर्ववच्च सर्वम्' (उणादिसूत्र ६६२) से तथा 'वसेः किच्च' से √वस्+असि (कित्) होकर, कित् के कारण 'वचिस्वपियजादीनां किति' से सम्प्रसारण होते हुए उषस् बना। 'वसेः किच्च' वर्तमान उणादिसूत्रों में नहीं मिलता, अतः हरदत्त का कथन अस्पष्ट है। इसलिए दीक्षितजी पञ्चपादी (वर्तमान उणादिसूत्र, जिसके पाँच पाद हैं) का उद्धरण देते हुए 'उषः कित्' (सू० ६७३) से इसके पूर्व ही उणादि प्रकरण में सिद्ध करने का उल्लेख करते हैं। वेद भाष्य में समुषद्भिः की सायण ने सम्+√उष् (दाहे)+शतृ=समुषत् (=जलते हुए) से व्याख्या की है। अपनी दाहक किरणों के साथ उत्पन्न होते हो।

(२०७) न कवतेर्यङि (७।४।६३)। **कृषेश्छन्दसि** (७।४।६४)। यङि अभ्यासस्य चुत्वं न। करीकृष्यते।

'कुहोश्चुः' (७।४।६२) सूत्र के अनुसार अभ्यास के कवर्ग या ह् का चवर्गादेश होता है, किन्तु √कु (बोलना) को यङ् प्रत्यय होने पर यह चवर्गादेश नहीं होगा। वेद में √कृष् (खींचना) के बाद यङ् होने पर अभ्यास को चवर्ग नहीं होता। √कृष्+यङ्+लट् ते='सन्यङोः' से द्वित्व, अभ्यास-कार्य—कृ कृष य ते='गुणो यङ्लुकोः' से अभ्यास को गुण, रपर—कर् कृष्यते—रीगृदुपधस्य' से रीक् का आगम, चवर्गादेश नहीं होता—करीकृष्यते। लोक में 'चरीकृष्यते'।

(२०८) **दाधर्त्ति-दर्धर्ति-दर्धर्षि-बोभूतु-तेतिक्तेऽलर्ष्याऽऽपनीफणत् संसनिष्यदत्-करिक्रत्-कनिक्रत्-भरिभ्रत्-दविध्वतो दविद्युतत्-तरित्रतःसरीसृपतं-वरीवृजन्मर्मृज्याऽऽगनीगन्तीति च** (७।४।६५)। एतेऽष्टादश निपात्यन्ते। आद्यास्त्रयो धृञो धारयतेर्वा। भवतेर्यङ्लुगन्तस्य गुणाभावः। तेन भाषायां गुणो लभ्यते। तिजेर्यङ्लुगन्तात्तङ्। इयर्त्तेर्लेटि हलादिःशेषापवादो रेफस्य लत्वम्, इत्त्वाभावश्च निपात्यते। अलर्षि युध्म खजकृत्पुरन्दरम्। सिपा निर्देशो न तन्त्रम्। अलर्त्ति दक्ष उत।

अभ्यास प्रकरण में वेद के अठारह शब्दों की सिद्धि पाणिनि निपातन से करते हैं। (१) दाधर्त्ति—दीक्षित के अनुसार प्रथम तीन शब्दों की सिद्धि √धृङ् (तुदादि, भ्वादि धरति) से या √धृ+णिच् (धारयति) से हुई है। धृ+शप् (के स्थान में व्यत्यय से श्लु)+लट्तिप्=श्लु के कारण द्वित्व, तिप् भी ते के स्थान में व्यत्यय से हुआ है क्योंकि √धृङ् के ङित् होने से आत्मनेपद होना चाहिये (अनुदात्तङित आत्मनेपदम्)—धृ धृ तिप्='उरत्' से अभ्यास का अकार, जश्त्व (अभ्यासे चर्च)—दधृति='सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से धातु को गुण—द धर्ति। निपातन से अभ्यास का दीर्घ—दाधर्ति। ऊपर भ्वादि वाले √धृङ् को लेकर शप् को श्लु किया गया है। तुदादि वाले √धृङ् को लेने पर श के स्थान में श्लु करके शेष कार्य पूर्ववत् करेंगे। अगर √धृ+णिच् (धारि) से करना हो तो शप् के स्थान में श्लु तथा

'णेरनिटि' के द्वारा णिच् का लोप करके शेष कार्य पहले जैसा होगा। लोक में 'धरति' या 'धारयति'।

(२) दर्धर्ति—√धृङ् (भ्वादि), धृङ् (तुदादि) या √धृङ्+णिच् से तिप् करने पर श्लु का विकरण मानकर पूर्ववत् सिद्धि होगी। अभ्यास का दीर्घ यहाँ नहीं हुआ किन्तु द धर्ति में द के बाद रुक् का आगम—दर्धर्ति। लोक में यह रूप√धृङ्+यङ्लुक्+तिप् करने से होता है, वेद में सीधे ही—यही अन्तर है, अन्यथा इसके निपातन की आवश्यकता ही नहीं।

(३) दर्धर्षि—धृङ् (भ्वादि) या धृङ् (तुदादि) या धृङ्+णिच् के सिप् प्रत्यय लगाकर दर्धर्ति—जैसा ही काम करेंगे—धृ धृ सिप्—द (रुक्) धर् सि—आदेशप्रत्यययोः' से ष्—दर्धर्षि। लोक में यङ्लुक् से यह रूप बनता है (धरसि)।

(४) बोभूतु—√भू+यङ्लुक्+तु (लोट्)—यङ् के कारण द्वित्व—भूभूतु अभ्यासकार्य (=भ का ब; 'गुणो यङ्लुकोः' से गुण)—बोभूतु। लोक में धातु को सार्वधातुक गुण होकर—बोभोतु या बोभवीतु ('यङो वा' से ईट्) होगा। गुणाभाव निपातन से हुआ। 'भूसुवोस्तिङि' (७।३।८८) सूत्र से भी गुण नहीं होता। ऐसी अवस्था में यह निपातन व्यर्थ हो जायगा; यही नहीं, बोभवीति इत्यादि रूप भी नहीं होंगे। 'भूसुवोस्तिङि' की प्राप्ति को रोकने के लिये यहाँ प्रस्तुत सूत्र में निपातन (गुणाभाव) किया गया है। दूसरे शब्दों में, यह सूत्र ज्ञापक है—बतलाता है कि 'भूसुवोस्तिङि' की प्रवृत्ति सीमित है, यङ्लुक् में गुण-निषेध नहीं होता। भाषा में इसीलिये यङ्लुगन्त में गुण हो जाता है, और वेद में निपातन से इसका निषेध हो जाता है। इस प्रकार वैदिक-सूत्र वेद और लोक दोनों में काम चलाता है, 'भूसुवो०' को रोकता है।

(५) तेतिक्ते—√तिज्+यङ्लुक्+ते (लट्)—द्वित्व, अभ्यास गुण (आत्मनेपद प्रत्यय का निपातन से लगना)—ते तिज्ते। 'चोः कुः' से ज् का ग् और 'खरि च' से ग् का क्=तेतिक्ते। 'ते' प्रत्यय चूँकि ङित् है अतः गुण नहीं हुआ।

(६) अलर्षि—√ऋ (जाना)+श्लु+सिप् (लट्)=श्लु के कारण

द्वित्व, अभ्यास और धातु दोनों का गुण, रपरत्व—अर् अर् सि। 'हलादि शेषः' की प्रवृत्ति को रोककर निपातन से अभ्यास में र् के स्थान में ल्—अल् अर् सि='अर्तिपिपर्त्योश्च' (७।४।७७) से अभ्यास को इ होना चाहिये किन्तु निपातन का शस्त्र उसे भी रोक देता है और स् को ष् (प्रत्यय) करके—'अलर्षि' रूप हुआ। लोक में—इयर्षि। अलर्षि के प्रयोग से हम यह नहीं समझें कि केवल यही रूप होगा, ऐसे अन्य रूप भी होते हैं जैसे—ऋ+श्लु+तिप्=अलर्ति।

फणतेराङ्पूर्वस्य यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य नीगागमो निपात्यते। अन्वा॒पनी॑फणत्। स्यन्देः संपूर्वस्य यङ्लुकि शतरि अभ्यासस्य निक्। धातुसकारस्य षत्वम्। करोतेर्यङ्लुगन्तस्याभ्यासस्य चुत्वाभावः। क्रन्देर्लुङि च्लेरङ् द्विर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च। कनि॑क्रदज्ज॒नुष॑म्। अक्रन्दीदित्यर्थः। बिभर्त्तेरभ्यासस्य जश्त्वाभावः। वि यो भरि॑भ्र॒दोष॑धीषु। ध्वरतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य विगागमो धातोर्ऋकारलोपश्च। दवि॑ध्वतो र॒श्मय॒ः सूर्य॑स्य।

(७) आपनीफणत्—आङ् (उपसर्ग)+√फण्+यङ्लुक्+शतृ=द्वित्व, अभ्यासकार्य—आ प (चर्त्व) फण्+अत्—निपातन से नीक् का आगम होकर—आपनीफणत्। अनु+आपनीफणत्=अन्वापनीफणत्। 'पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्' (निरुक्त २।२८) में इसे क्रियापद माना गया है। (=पार करता है)। (ऋ० ४।४०।४)।

(८) संसनिष्यदत्—सम्+ √ स्यन्द् (बहाना)+यङ्लुक्+शतृ। 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से न् का लोप। शतृ सार्वधातुक कित् है क्योंकि यह पित् नहीं है। सम् स्यन्द् स्यन्द् अत्='हलादिः शेषः' से अभ्यास में स बचना, निपातन से निक् का आगम—संसनि स्यदत्। धातु के स् को ष होकर—संसनिष्यदत्।

(९) करिक्रत्—√कृ+यङ्लुक्+शतृ=कृ कृ+अत्—धातु को गुण न होना, अभ्यास को गुण=कर् कृ+अत्—'हलादिः शेषः' के बाद रिक् का आगम तथा निपातन से चुत्व (अभ्यास क को च) नहीं होना। करि कृअत्—यण् सन्धि होकर—करिक्रत्।

(१०) कनिक्रदत्—√क्रन्द्+लुङ् (च्लि के स्थान में अङ्) तिप्= अट् का अभाव, निपातन से द्वित्व—क्रन्द् क्रन्द् अ त्='हलादिः शेषः' क क्रन्द् अत्, निपातन से अभ्यास का चुत्व (च) नहीं होना, निक् आगम, नुम् का लोप—कनिक्रदत्। लोक में अट्+क्रन्द्+लुङ् (तिप्) करने से इट्, सिच् और ईट् चले आते तथा 'इट ईटि' से स् का लोप होकर अक्रन्दीत् रूप होता है। कनिक्रदत् में √क्रन्द्+यङ्लुक्+शतृ ठीक था।

(११) भरिभ्रत्—√भृ+यङ्लुक्+शतृ—भृ भृ अत्—भर् भृ अत्—भ भृ अत्—'रिक्' का आगम; यण्; जश् (व) नहीं होना—भरिभ्रत्। लोक में बभ्रंत् (रुक्), वरिभ्रत् (रिक्), या बरीभ्रत् (रीक्) रूप होंगे।

(१२) दविध्वतः—दविध्वत् का प्रथमा बहुवचन। √ध्वृ+यङ्लुक् +शतृ—'हलादिः शेषः', अभ्यासगुण, जश्त्व आदि करके—द ध्वृ+अत्। निपातन से विक् (वि) का आगम तथा धातु के ऋ का लोप—दविध्वत्। दविध्वत्+जस्='नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का अभाव—दविध्वतः (तिरछा जाते हुए)। लोक में दध्वंतः, दरिध्वतः, या दरीध्वतः।

द्युतेरभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावोऽत्त्वं विगागमश्च। दविद्युतद्दीद्यच्छोशुचानः। तरतेः शतरि श्लौ अभ्यासस्य रिगागमः। सुहोर्जा तरित्रतः। सृपेः शतरि श्लौ द्वितीयैकवचने रीगागमोऽभ्यासस्य। वृजेः शतरि श्लौ अभ्यासस्य रीक्। मृजेर्लिटि णल्, अभ्यासस्य रुक्, धातोश्च युक्। गमेराङ्पूर्वस्य लटि श्लावभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च। वक्ष्यन्ती वेदागनीगन्ति कर्णम्।

(१३) दविद्युतत्—√द्युत्+यङ्लुक्+शतृ। द्वित्व करने से द्युत् द्युत् अत्। 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' (७।४।६७) से होने वाले अभ्यास सम्प्रसारण का न होना (निपातन से) तथा—दु द्युत् अत् होने के बाद उ का अ होना (निपातन); विक् का आगम=दविद्युत् अत्=दविद्युतत्।

(१४) तरित्रतः—√तॄ+श्लु (शप् के स्थान में 'व्यत्ययो बहुलम्' से)+शतृ=द्वित्व, 'उरत्' से अभ्यास में अ—त तॄ अत्। रिक् का आगम और यण् (धातु में)—तरित्रत्+जस्=तरित्रतः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का अभाव।

(१५) सरीसृपतम्—√सृप्+श्लु (व्यत्यय से) + शतृ + अम् (द्वितीया एक०)=द्वित्व तथा अभ्यास में 'हलादिः शेषः'—सृ सृप्+अत्+अम्='उरत्' से ऋ का अ तथा रीक् का आगम—सरीसृपतम् : नुम् का निपातन से अभाव।

(१६) वरीवृजत्—√ वृज् (रुधादि)+श्लु (व्यत्यय से)+अत्= वृज्वृज् अत्=वृवृज् अत्=ऋ का अ (उरत्)—व वृज् अत्। रीक् का आगम—वरीवृजत्।

(१७) मर्मृज्य—√मृज् (शुद्ध करना, अदादि)+लिट् (णल्)= मृज् मृज् अ—मृ मृज् अ=म मृज् अ। अब निपातन से अभ्यास में रुक् (र्) का तथा धातु में युक् (य्) का आगम—मर् मृज् य् अ=मर्मृज्य। लोक में—ममार्ज।

(१८) आगनीगन्ति—आ+ √ गम्+श्लु (व्यत्यय से) + लट् तिप्=आ गम् गम् ति=आ ग गम् ति। नीक् का आगम तथा चुत्व (अभ्यास ग का ज) का अभाव—आगनी गम् ति। म् का अनुस्वार (मोऽनुस्वारः) तथा परसवर्ण न् (अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः) आगनीगन्ति।

'इति' शब्द यहाँ प्रकार के अर्थ में है—ऐसे ही बहुत से शब्द हैं जिनकी गणना भी असम्भव है। पाणिनि ने केवल दिशा का निर्देश किया है।

(२०९) ससूवेति निगमे (७।४।७४)। सूतेर्लिटि परस्मैपदं वुगागमोऽभ्यासस्य चात्त्वं निपात्यते। गृष्टिः ससूव स्थविरम् (ऋ० ४।१८।१०)। सुषुवे इति भाषायाम्।

(२१०) बहुलं छन्दसि (७।४।७८)। अभ्यासस्य इकारः स्याच्छन्दसि। पूर्णां विवष्टि। वशेरेतद्रूपम्।

वेद में 'ससूव' की सिद्धि निपातन से होती है। √सू+लिट् (णल्)। यद्यपि सू आत्मनेपदी धातु है तथापि निपातन से इसे परस्मैपदी किया गया है। सू सू अ—अभ्यास का ह्रस्व (ह्रस्वः) होकर सु सू अ। निपातन से अभ्यास का अ तथा धातु में वुक् का आगम—स सू व् अ=ससूव। लोक में 'सुषुवे'। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से एकार। गृष्टिः (एक बार जो प्रसव कर

चुकी है उस गौ ने) स्थविरं (पुष्ट बच्चे को) ससूव (उत्पन्न किया)। नागेश ने इसे 'दाधर्ति०' सूत्र के साथ रखने का सुझाव दिया है ।

श्लु होने पर वेद में अभ्यास को बहुल रूप से इकार होता है। जैसे—वश् (अदादि होने पर भी इसे व्यत्यय से श्लु) + श्लु + तिप्=व वश् ति= इकार—विवश् ति । 'व्रश्चभ्रस्ज०' से ष् तथा 'ष्टुना: ष्टु:' से त का ट्= विवष्टि । लोक में वष्टि । इसी प्रकार—विवक्ति, सिषक्ति, जिघर्ति आदि । नहीं होने पर—ददाति ।

॥ इति सप्तमोऽध्याय: ॥

———

अष्टम अध्याय

[द्विरुक्ति—मतुप् का व—नुट् आगम—क्त प्रत्यय के निपातन—रु का प्रयोग—प्लुत का प्रकरण—टि का प्लुत होना, उदात्त-प्लुत, अनुदात्त प्लुत, स्वरित-प्लुत—संहिता-प्रकरण—रु होना—आनुनासिक—विसर्ग का स्—मूर्धन्यादेश, स् और न् का।]

(२११) **प्रसमुपोदः पादपूरणे** (८।१।६)। एषां द्वे स्तः पादपूरणे। प्रप्रायमग्निः (ऋ० ७।८।४)। संसमिद्युवसे (ऋ० १०।१९१।१)। उपोपं मे परामृश (ऋ० १।१२६।७)। किं नोदुदु हर्षसे (ऋ० ४।२१।९)।

जब वेद के चरणों की पूर्ति करनी ही तो प्र, सम्, उप और उत् इन चार शब्दों की द्विरुक्ति होती है। यद्यपि सूत्र में कहीं भी 'छन्दसि' का उल्लेख नहीं है फिर भी संस्कृत में अनुपयुक्त होने के कारण दीक्षित ने इसे वैदिक प्रकरण में दिया है। संस्कृत में अधः, उपरि और परि की द्विरुक्ति होती है। प्र इत्यादि केवल वेद में द्वित्व लेते हैं—प्र प्रायमग्निः। सम् सम् इद् युवसे। उपउप मे परामृश। किं न उत् उत् उ हर्षसे। इनके कोई विशेष अर्थ नहीं। पादपूरण करने वाले अव्ययों की गणना यास्क ने निरुक्त प्रथम अध्याय में की है।

(२१२) **छन्दसीरः** (८।२।१५)। इवर्णान्ताद्रेफान्ताच्च परस्य मतोर्मस्य वः स्यात्। हरिवते हर्यश्वाय। गीर्वान्॥

(२१३) **अतो नुट्** (८।२।१६)। अन्नन्तान्मतोर्नुट् स्यात्। अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः (ऋ० १०।७१।७)। अस्थन्वन्तं यदनस्था (ऋ० १।१६४।४)।

वेद में इवर्णान्त और रकारान्त (इ—रः) शब्द के बाद मतुप् प्रत्यय लगने से म को व हो जाता है। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) से म को व होने का प्रकरण चलता है। हरि+मतुप् (उ, प् का इत्संज्ञक लोप)। हरि+वत्+ङे (चतुर्थी एक०)=हरिवते। गिर्+मतुप्=गिर्+वत्='र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (८।२।७६) से उपधादीर्घ—गीर्वत्+सु=

उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।८०) से नुम्, 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) से उपधादीर्घ—गीर्वान्त् स्=‘हल्ङ्याब्भ्यो' से स् का लोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' से त् लोप=गीर्वान् (स्तुति से युक्त)।

अन् से अन्त होने वाले शब्दों में मतुप् लगने पर नुट् का आगम होता है। अक्षि+मतुप्=इ का परिवर्तन अन् में (अनङ् आदेश—'अस्थिदधि-सक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' ७।१।७५ तथा 'छन्दस्यपि दृश्यते')—अक्षन्+नुट्+मतुप्=‘मादुपधायाः०' से म् का व्—अक्षन् न्वत्=‘पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) के बल से अनङ् के प्रति नुट् असिद्ध हो जायगा अतः, अक्षन् के न् का लोप (असिद्धत्वात्)=अक्षन्वत्। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' से ण्=अक्षण्वत् =जस्=‘उगिदचां' से नुम्—अक्षण्वन्तः। अस्थि+मतुप्=अस्थन्+न् वत्=अस्थन्वत्। अम् लगाकर 'अस्थन्वन्तम्'। संस्कृत में—अक्षिमन्तः, अस्थिमन्तम्।

(२१४) नाद्घस्य (८।२।१७)। नान्तात्परस्य घस्य नुट्। सुपथिन्तरः।

(क) भूरिदाव्नस्तुड्वाच्यः (वा०)। भूरिदावत्तरो जनः।

(ख) ईद्रथिनः (वा०) रथीतरः। रथीतमं रथीनाम्॥

वेद में नकारान्त शब्द के बाद लगने वाले घ (तरप्, तमप् प्रत्ययों) को नुट् का आगम होता है। सुपथिन्+तरप् ('द्विवचनविभज्योपपदे तरबीय-सुनौ' ५।३।५७ से)=पथिन् के नकार का लोप, नुट् का आगम—सुपथिन्तरः (एक सुन्दरतर मार्ग)।

भूरिदावन्-शब्द के बाद घ आने पर तुट् आगम होता है—भूरिदावन्+त् तर=न् का लोप (नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य) होकर भूरिदावत्तरः। रथिन्-शब्द के बाद घ को ईत् का आगम होता है—रथिन्=तरप्=न-लोप, ई का आगम—रथि+ईतर=रथीतरः। रथिन्+तमप्=रथीतमः। रथीतमं, रथीनाम्=रथियों में सर्वश्रेष्ठ (रथी) को। वेद में कहने की ऐसी प्रणाली है, इसे पुनरुक्ति न समझें—गोषु गोतमः, मासानां मासोत्तमः, नृषु नृतमः इत्यादि। इसे Vedic tautology कहते हैं। लोक में—सुपथितरः, (भूरिदानितरः—क्योंकि दावन् अप्रयुक्त है) रथितरः, रथितमः।

(२१५) नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्त्तसूर्त्तगूर्त्तानि छन्दसि (८।२।६१)। सदेर्नञ्पूर्वान्निपूर्वाच्च निष्ठायां नत्वाभावो निपात्यते। नसत्तमञ्जसा। निषत्तमस्य चरतः। असन्नं निषण्णमिति प्राप्ते। उन्देर्नञ्पूर्वस्यानुत्तम्। प्रतूर्त्तमिति त्वरतेः 'तुर्वी' इत्यस्य वा। सूर्त्तमिति 'सृ' इत्यस्य। गूर्त्तमिति 'गुरी' इत्यस्य।

क्त-प्रत्यय के प्रकरण में छह शब्दों का निपातन वेद में किया जाता है। (१) नसत्त—नञ् + √सद् + क्त = 'रदाभ्यां निष्ठा तो नः पूर्वस्य च दः' से त् तथा द् दोनों को न होना चाहिए किन्तु निपातन से नहीं हुआ अतः—न सद् त = 'खरि च' से द् का त्—नसत्त (नञ् का अ नहीं होना निपातन से)। नसत्तम् अञ्जसा = सत्य के द्वारा स्थिर नहीं। लोक में—असन्नम्। (२) निषत्त—नि + √सद् + क्त = निपातन से त का सकाराभाव, स का ष होना—'सदिरप्रतेः' = निषत्तम्। लोक में निषण्णम् (= बैठा हुआ)।

(३) अनुत्त—नञ् + √उन्द् + क्त = 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से न् (उन्द् में) का लोप—नञ् उद्त = 'नलोपो नञः' से नञ् के न् का लोप, 'तस्मान्नुडचि' से नुडागम = अन् उद्त्—त का नकाराभाव, 'खरि च' से द् का त् = अनुत्तम्। लोक में अनुन्नम्।

(४) प्रतूर्त्त—प्र + √त्वर् + क्त = ज्वरत्वरश्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (६।४।२०) से व के स्थान में ऊठ् आदेश होकर—प्रतूर् त = 'अचो रहाभ्यां द्वे' से त का द्वित्व—प्रतूर्त्तम्। अथवा प्र + √तुर्वी (हिंसायाम्) + क्त—'राल्लोपः' (६।४।२१) से व का लोप, ई की इत्संज्ञा = प्रतुर्त—कित् क्त के कारण गुणनिषेध, 'इट् का अभाव, 'हलि च' से दीर्घ = प्रतूर्त्तम्। लोक में 'रदाभ्यां निष्ठा तो नः पूर्वस्य च दः' से त का न (ण) हो जाता तथा प्रतूर्णम् बनता। त का न नहीं होना ही निपातन है।

(५) सूर्त्त—√सृ + क्त = निपातन से ऋ का उ (र्) में परिवर्तन तथा 'सुर्त' बनने पर 'हलि च' से दीर्घ—सूर्त्तम्। लोक में सृतम्।

(६) गूर्त्त—√गुरी (यत्न करना) + क्त = गुर्त—दीर्घ होकर 'गूर्त्तम्'। लोक में—गूर्णम्।

(२१६) अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि (८।२।७०)। रुर्वा रेफो वा। अम्न एव—अम्नरेव। ऊध एव—ऊधरेव। अव एव—अवरेव।

(२१७) भुवश्च महाव्याहृतेः (८।२।७१)। भुवइति। भुवरिति।

वेद में अम्नस्, ऊधस् और अवस् के स् को रु या रेफ (र्) विकल्प से होता है यदि बाद में स्वर से आरम्भ होने वाला कोई शब्द हो। अतः, अम्नस् (रु)+एव='भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से रु का य्—अम्न् य् एव। य् का 'लोपः शाकल्यस्य' से वैकल्पिक लोप होकर अम्न एव या अम्नयेव दो रूप होंगे। अम्नस् के स् को रेफ होने से अम्न र् एव=अम्नरेव होगा। ऊधस्+एव—रु होने पर 'ऊध एव' या 'ऊधयेव', रेफ होने पर ऊधरेव। अवस्+एव—(रु) अवएव या अवयेव। (रेफ) अवरेव।

गायत्री-छन्द में पठित सावित्र-मन्त्र (तत्सवितुर्वरेण्यम्०—) के पूर्व उच्चारण किये जाने वाले कुछ शब्द 'महाव्याहृति' कहलाते हैं। ये तीन और सात—दो तरह की हैं। तीन में—भूः, भुवः, स्वः, तथा सात में महः, जनः, तपः, सत्यम्—ये ४ और मिल जाते हैं। महाव्याहृति से सम्बन्ध रखने वाले भुवस् शब्द के स् को भी विकल्प से रु और रेफ दोनों होते हैं। भुवस्+इति=(रु) भुव य् इति—भुवयिति और भुव इति। रेफ होने पर—भुवरिति। यदि 'भुवस्' महाव्याहृति का न हो तो इस प्रकार सन्धियाँ नहीं होंगी। √भू+लङ् (सिप्) करने पर शप् के अभाव में उससे होने वाले गुण का निषेध करके उवङादेश तथा अडागमाभाव से 'भुवः' वेद में बनता है—भुवः+विश्वेषु में 'हशि च' से स् का उकार हो गया है—भुवो विश्वेषु भुवनेषु यज्ञियः। (देखें—शब्देन्दुशेखर)।

(२१८) ओमभ्यादाने (८।२।८७)। ओम्शब्दस्य प्लुतः स्यादारम्भे। ओ३म् अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम् (ऋ० १।१।१)। अभ्यादाने किम्? ओमित्येकाक्षरम्।

(२१९) ये यज्ञकर्मणि (८।२।८८)। ये३यजामहे। यज्ञेति किम्? ये यजामहे ॥

अभ्यादान=ऋचा का प्रारम्भ। ऋचा के प्रारम्भ में उच्चरित ओम् शब्द प्लुत होता है। अग्निमीले पुरोहितम् (ऋ० १।१।१) ऋचा का आरम्भ है, इसके पूर्व 'ओ३म्' (प्लुत) है। ऋचा के आरम्भ में न रहने से नहीं होगा जैसे—ओमित्येकाक्षरम् में। एक तो यह ऋचा नहीं है, दूसरे ओम् यहाँ श्लोक का ही एक खण्ड है उससे पृथक् नहीं। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार ओम् ऋचा से पृथक्, आरम्भ में हो तभी प्लुत होगा।

यज्ञकर्म (व्यवहार काल) में 'ये' शब्द भी प्लुत होता है—ये३यजामहे। यदि स्वाध्यायकाल में इसे पढ़ना भर हो, यज्ञ नहीं हो रहा हो तो प्लुत नही होगा—ये यजामहे।

(२२०) प्रणवष्टेः (८।२।८९)। यज्ञकर्मणि टेरोमित्यादेशः स्यात्। अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋ० ८।४४।१६)। टेः किम्? हलन्ते अन्त्यस्य मा भूत्।

यज्ञ के कार्य में वाक्य के अन्तिम शब्द के टि-खण्ड को प्रणव अर्थात् ओङ्कारादेश होता है। अपां रेतांसि जिन्वति (=प्रसादयति) में 'ति' के अन्तिम इ को ओम् हो गया और जिन्वतोम् पढ़ेंगे। आगे आने वाले 'याज्यान्तः' (८।२।९०) के अनुसार इसे प्लुत भी पढ़ेंगे। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि 'वाक्यस्य टेः प्लुतः उदात्तः' (८।२।८२) सूत्र का अधिकार पूरे पाद तक है—सभी सूत्रों में उसकी अनुवृत्ति होती है, 'टेः' की अनुवृत्ति भी हो रही है, इस सूत्र में भी होगी, तब पुनः 'टेः' कहने की आवश्यकता ही क्या है? केवल 'प्रणवः' कह देते जिसका अर्थ होता—वाक्यस्य टेः प्रणवः स्यात्? इसका उत्तर यह है कि वैसी अवस्था में (टेः नहीं देने पर) 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र चला आता तथा आदेश को अन्त्यादेश बना देता अर्थात् टि के अन्तिम वर्ण को (व्यञ्जन या स्वर) ही ओङ्कार होता जैसे—'भायात्' में केवल त् को ही ओम् हो जाता, पूरे टि को (जैसे—आत्) ओमादेश नहीं हो सकता। अतः इस स्थान पर 'टेः' का पुनः उपादान किया गया है कि अजन्त को ही ओम् आदेश हो, हलन्त को नहीं। दूसरे शब्दों में, सर्वादेश के लिए 'टि' का ग्रहण किया है (टिग्रहणं सर्वादेशार्थम्—काशिका)। शब्देन्दुशेखर में इसे पूरा स्पष्ट किया गया है। इस स्थान में टेः कह देने से अन्त्यादेश का भ्रम मिट

जाता है तथा टि के अन्तिम वर्ण को ओम् न होकर पूरे टि को ही हो जाता है। लेकिन यह भी ध्येय है कि अन्त्यादेश होने की सम्भावना नहीं हो सकती थी जहाँ टि स्वर और व्यञ्जन दोनों लिये हो, जैसे 'आत्' (भायात् में)।

(२२१) **याज्यान्तः** (८।२।९०)। ये याज्या मन्त्रास्तेषामन्त्यस्य टेः प्लुतो यज्ञकर्मणि। जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्यवाहा३म् (ऋ० १०।८।६)। अन्तः किम् ? याज्यानामृचां वाक्यसमुदायरूपाणां प्रतिवाक्यं टेः स्यात्। सर्वान्त्यस्य चेष्यते।

याज्या=याज्याकाण्ड में पढ़े जाने वाले मन्त्र। किसी यज्ञ के क्रम में कुछ मन्त्र पढ़े जाते हैं, उन सबों का सङ्कलन याज्याकाण्ड कहलाता है जिसमें याज्यामन्त्र सङ्कलित होते हैं। तो, इस तरह के याज्यामन्त्रों के अन्त में जो मन्त्र पढ़ा जाय (=अन्तिम याज्यामन्त्र) उसके टि को प्लुत होता है यदि यज्ञ का अवसर हो—'जिह्वामग्ने अकृषे हव्यवाहाम्' अन्तिम याज्यामन्त्र है (किसी विशेष यज्ञ का)। इसके अन्तिम (टि—) वर्ण को प्लुत हो—हव्यवाहा३म्। 'अन्तः' क्यों कहा गया है ? यदि नहीं कहा जाता तो वाक्य के समूह के रूप में जो याज्य ऋचायें हैं उनके प्रत्येक वाक्य में टि प्लुत होने लगेगा, लेकिन वास्तव में होता है केवल अन्तिम वाक्य में ही—यही सूत्रकार की इच्छा है।

(२२२) **ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः** (८।२।९१)। एषामादेः प्लुतो यज्ञकर्मणि। अग्नयेऽनुब्रू३हि (मैत्रा० सं० १।४।११)। अग्नये गोमयानि प्रे३ष्य। अस्तु श्रौ३षट्। सोमस्याग्ने वीही३ वौ३षट्। अग्निमा३वह॥

यज्ञ के अवसर पर ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट् और आवह इन पाँच शब्दों के आदि स्वर में प्लुत होता है। जैसे—अग्नयेऽनुब्रू३हि में प्रथम स्वर ऊ को प्लुत हो गया। प्रे३ष्य, श्रौ३षट्, वौ३षट्। हरदत्त का कहना है कि वौषट्, वौक्षट् आदि सभी वषट्कारों का उपलक्षण वौषट् है जिससे सबों का आदिस्वर प्लुत होता है। आ३वह। 'आवह देवान्यजमानः' में आ प्लुत नहीं हुआ है क्योंकि वेद में सभी विधियाँ वैकल्पिक हैं (नागेश)।

(२२३) अग्नीत्प्रेषणे परस्य च (८।२।९२)। अग्नीध: प्रेषणे आदे: प्लुत:, तस्मात् परस्य च। ओ३श्रा३वय। (नेह—अग्नीदग्नीन्विहर, बर्हिस्तृणीहि)।

अग्नि को प्रज्वलित करने वाले व्यक्ति (अग्नीध्=अग्नि+इन्ध्+क्विप्) को आज्ञा देने वाले वाक्य (प्रेषण) में आदि-अक्षर तो प्लुत होता ही है, उसके बाद वाला (दूसरा) वर्ण भी प्लुत होता है—जो श्रावय (ओ एक अव्यय है) में ओ और श्रा दोनों प्लुत हैं। अग्नीध् का नाम लेकर आज्ञा देने में नहीं होता जैसे—अग्नीदग्नीन् विहर। कहीं पर विकल्प-परिभाषा (छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते) से भी प्लुत नहीं होता जैसे—बर्हिस्तृणीहि (कुश फैलाओ)।

(लोकभाषा में प्लुत्–विधान)

(२२४) विभाषा पृष्टप्रतिवचने हे: (८।२।९३)। प्लुत:। अकार्षी: कटम्? अकार्षं हि३। अकार्षं हि। पृष्टेति किम्? कटं करिष्यति हि। हे: किम्? कटं करोमि ननु।

(२२५) निगृह्यानुयोगे च (८।२।९४)। अत्र यद्वाक्यं तस्य टे: प्लुतो वा। अद्यामावास्येत्यात्थ३? अमावास्येत्येवं वादिनं युक्त्या स्वमतात्प्रच्याव्य एवमनुप्रयुज्यते॥

किसी प्रश्न (पृष्ट) के उत्तर (प्रतिवचन) में जब 'हि' का प्रयोग किया जाय तो हि का इ (टि) प्लुत होता भी है, नहीं भी होता है। प्रश्न पूछा कि क्या तुमने चटाई (कट) बनाई? उत्तर हुआ—हाँ, मैंने बनाई (अकार्षम् हि)। यह हि विकल्प से प्लुत होगा—हि३, हि। यदि प्रश्न नहीं हो तो प्लुत नहीं होगा जैसे—कटं करिष्यति हि (वह चटाई बनावेगा)। यह प्रश्नोत्तर नहीं है, केवल साधारण तथ्य का निर्देशक है। यदि 'हि' का प्रयोग नहीं हो, दूसरे अव्यय हों तो भी प्लुत का प्रयोग नहीं होगा जैसे–कटं करोमि ननु (हाँ, हाँ, चटाई बना रहा हूँ)। यह प्रश्न का उत्तर है किन्तु इसमें 'हि' नहीं है। संस्कृत भाषा के वाग्व्यवहार का निर्देश है।

निगृह्य=खण्डन करके, निग्रह=अपने मत से दूसरे को च्युत करना, गिराना। अनुयोग=दूसरे पक्ष के शब्दों की आवृत्ति करना। जब दूसरे पक्ष

के मत का तर्क से खण्डन करके उसी की बात फिर दुहराई जाय तो ऐसी अवस्था में वाक्य के अन्तिम शब्द के टि को प्लुत होता है—'अद्य अमावास्या' इति आत्थ३। पूर्व पक्ष ने कहा कि आज अमावास्या है, उत्तर पक्ष ने इस बात का प्रबल युक्ति से खण्डन किया और कहा कि इतना होने पर भी—कहते हो कि आज अमावास्या है ? यहाँ पूर्वपक्षी की उक्ति 'अद्यामावास्या' को फिर से दुहराया गया है, इसलिये वाक्य के अन्तिम शब्द आत्थ (कहते हो) में टि प्लुत हो गया है।

(२२६) **आम्रेडितं भर्त्सने** (८।२।९५)। दस्यो३ दस्यो३ घातयिष्यामि त्वाम्। आम्रेडितग्रहणं द्विरुक्तोपलक्षणम् चौर३ चौर३ ॥

वाक्य के आदि में पुकारे जाने वाले व्यक्ति के बोधक पद को द्वित्व होता है यदि असूया (दूसरे के गुण को न सहना), आदर, कोप, निन्दा या भर्त्सना (शब्दों से भय दिखाना) का अर्थ हो (वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोप-कुत्सनभर्त्सनेषु ८।१।८)। द्वित्व होने पर दूसरे शब्द को आम्रेडित कहते हैं। किन्तु प्रस्तुत सूत्र में आम्रेडित दोनों शब्दों के अर्थ (द्विरुक्तोपलक्षण) में लिया गया है। सूत्र का अर्थ है—यदि भर्त्सना (अपकारशब्दैर्भयोत्पादनं भर्त्सनम्—काशिका) का अर्थ हो तो आम्रेडित को (टि में) प्लुत होता है। द्विरुक्त का उपलक्षण (बोधक) होने से दोनों में प्लुत होता है—दस्यो३ दस्यो३ घातयिष्यामि त्वाम् (अरे डाकू; मैं तुझे मरवा दूंगा)। उसी तरह चौर३ चौर३।

(२२७) **अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम्** (८।२।९६)। 'अङ्ग' इत्यनेन युक्तं तिङन्तं प्लवते। अङ्ग कूज३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। तिङ् किम् ? अङ्ग देवदत्त मिथ्या वदसि। आकाङ्क्षं किम् ? अङ्ग पच। नैतदपरमाकाङ्क्षति। भर्त्सन इत्येव। अङ्गाधीष्व भक्तं तव दास्यामि।

जब एक तिङन्त का उसी वाक्य में दूसरे तिङन्त से सम्बन्ध हो तो उसे आकांक्ष तिङ् कहते हैं। सूत्रार्थ—किसी वाक्य में भर्त्सना के अर्थ में 'अङ्ग' शब्द से युक्त यदि अकांक्ष तिङ् हो तो उसके टि को प्लुत होता है। अङ्ग कूज ३, इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म (अरे बोल लो, अभी जानोगे रे दुष्ट)। यहाँ पर

'कूज' आकांक्ष तिङ् है क्योंकि 'ज्ञास्यसि' से इसे सम्बन्ध है, 'अङ्ग' का प्रयोग है तथा भर्त्संना का अर्थ भी है अतः 'कूज' को प्लुत हो गया। तिङन्त नहीं हो और शेष सभी चीजें हों तो प्लुत नहीं होगा—अङ्ग देवदत्त, मिथ्या वदसि। यहाँ तिङ् नहीं, देवदत्त (सुवन्त—सम्बोधन) है। यदि तिङ् हो और वह अकांक्ष नहीं हो तो भी प्लुत नहीं होगा जैसे अङ्ग-पच। यहाँ 'पच' क्रिया किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं रखती। यह भी ध्येय है कि भर्त्संना के अर्थ में ही यह कार्य होता है, दूसरे अर्थों में सभी स्थितियाँ रहने पर भी प्लुत नहीं होता जैसे—अङ्ग अधीष्व (पढ़ो), भक्तं ते दास्यामि (तुम्हे भात दूंगा)। यहाँ लोभ देकर प्रेरणा देने का अर्थ है इसलिए प्लुत नहीं हुआ।

(२२८) विचार्यमाणानाम् (८।२।९७)। वाक्यानां टे प्लुतः। होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ। न होतव्य३मिति। होतव्यं न होतव्यमिति विचार्यते। प्रमाणैर्वस्तुतत्त्वपरीक्षणं विचारः।

जिनमें किसी वस्तु का विचार किया जाय उन वाक्यों के टि को प्लुत होता है जैसे यह विचार कर रहे हैं दीक्षित के घर पर हवन करना चाहिए कि नहीं। इसमें दो पक्ष या कोटियाँ हैं—हवन करें, हवन नहीं करें। दोनों का सम्यक् तर्क द्वारा परीक्षण चल रहा है ऐसी स्थिति में कोटियों के वाक्यों के टि को प्लुत होगा। 'होतव्यं दीक्षितस्य गृहे' तथा 'न होतव्यम्'। इनमें प्रथम वाक्य के अन्त में एकार है अतः आगामी सूत्र—'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ' (८।२।१०७) द्वारा ए को प्लुत होने के समय आ को प्लुत करके बाद में इ हो जाएगा—गृहे ३=गृहा३इ। दूसरे वाक्य 'न होतव्यम्' में व्य के अ को प्लुत हुआ—न होतव्य३मिति। दीक्षितजी विचार का लक्षण कह रहे हैं कि प्रमाणों के द्वारा पदार्थ के वास्तविक रहस्य को जानने की चेष्टा को विचार कहते हैं। कहा गया है—

> कोटिद्वयस्पृग्विज्ञानं विचार इति कथ्यते।
> विचार्यमाणस्तज्ज्ञानविषयीभूत उच्यते॥

अर्थात् उस विशेष ज्ञान को विचार कहते हैं जिसमें दोनों पक्षों—पूर्व और उत्तर—का स्पर्श किया जाय; इस प्रकार से होने वाले ज्ञान के विषय (Object, जिसे जाना जाय) को विचार्यमाण कहते हैं।

(२२९) **पूर्वं तु भाषायाम्** (८।२।९८)। विचार्यमाणानां पूर्वमेव प्लवते। अहिर्नु३ रज्जुर्नु। प्रयोगापेक्षं पूर्वत्वम्। भाषाग्रहणात्पूर्वयोगश्छन्दसीति ज्ञायते।

संस्कृत-भाषा में, वैदिक-भाषा के विपरीत (तु) विचार्यमाण वाक्यों में केवल पहला वाक्य ही प्लुत होता है। जब दो पक्ष स्थापित करें कि यह सर्प है, या रस्सी है तो प्रथम वाक्य का टि 'नु' ही प्लुत होगा—अहिर्नु३, रज्जुर्नु। 'नु' का प्रयोग विचार के लिए होता है। यहाँ पर पूर्व का अभिप्राय पूर्वपक्ष नहीं है, बल्कि जिसका प्रयोग पहले हो। इसीलिए 'रज्जुर्नु३ अहिर्नु' कहने पर भी पहला ही होगा। यहाँ पर 'भाषायाम्' कहा गया है जिसका अर्थ है कि पूर्व का सूत्र केवल वेद के लिए था।

(२३०) **प्रतिश्रवणे च** (८।२।९९)। वाक्यस्य टेः प्लुतोऽभ्युपगमे, प्रतिज्ञाने, श्रवणाभिमुख्ये च। गां मे देहि भोः। हन्त ते ददामि३। नित्यः शब्दो भवितुमर्हति३। दत्त किमात्थ३।

प्रतिश्रवण=जिसमें स्वीकृति-शब्द दिया जाय (प्रतिश्रूयते)। इसके तीन अर्थ हैं—अभ्युपगम (=स्वीकार करना), प्रतिज्ञान (Enunciation, Promise एक वाक्य स्थापित करना कि इसे प्रमाणों से सिद्ध करूंगा) तथा श्रवणाभिमुख्य (किसी बात को सुनने के लिए उत्सुकता दिखाना। इन तीनों अर्थों में वाक्य के टि को प्लुत होता है—(१) स्वीकृति—गां देहि भोः, हन्त ते ददामि३। (मुझे गाय दो, हाँ, देता हूँ)। यहाँ 'ददामि' में टि प्लुत है। (२) प्रतिज्ञान—किसी ने प्रमाणित करने के लिए प्रतिज्ञा-वाक्य रखा-शब्द नित्य है (नित्यः शब्दो भवितुमर्हति३)। यहाँ 'अर्हति' में टि प्लुत है। न्यायसूत्रकार गौतम के मत से अनुमान के पाँच वाक्य (अवयव) होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जिस वाक्य को सिद्ध करना होता है उसे 'प्रतिज्ञा' कहते हैं।[1] (३) श्रवण के लिए अभिमुख होना—कोई पूछता है कि दत्त, तुम क्या कह रहे हो (दत्त, किमात्थ३) इसके बाद वह दत्त से बातें सुनना चाहता है इसलिए यहाँ 'किमात्थ' में टि प्लुत होगा।

---

(१) न्यायसूत्र १।१।३३ साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।

(२३१) अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः (८।२।१००)। अनुदात्तः प्लुतः स्यात्। दूराद्धूतादिषु सिद्धस्य प्लुतस्यानुदात्तत्वमात्रमनेन विधीयते। अ॒ग्नि॒भू॒त॒३इ॒। प॒ट॒३उ॒। अग्निभूते पटो—एतयोः प्रश्नान्ते टेरनुदात्तः प्लुतः। शोभनः खल्वसि मा॒ण॒व॒क॒ ३।

प्रश्न के अन्त में अथवा आदर के अर्थ में प्रयुक्त वाक्य के अन्त में प्लुत स्वर अनुदात्त होता है। पहले कहे गये सूत्रों में प्लुत स्वर उदात्त था। यद्यपि यह सूत्र प्लुत प्रकरण में दिया गया है तथापि इसमें प्लुत का विधान नहीं किया गया है, बल्कि 'दूराद्धूते च' इत्यादि सूत्रों के द्वारा जो प्लुत की सिद्धि होती है—उसी प्लुत को केवल अनुदात्त होना कहा गया है। दूर से पुकारने के लिए प्लुतस्वर होता है तथा वाक्य के टि को प्लुत और उदात्त होने का अधिकार ८।२।८२ से ही चलता है (वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः)। उसी उदात्त को रोक कर अनुदात्त का विधान इस सूत्र में किया गया है—प्लुत तो स्वयं सिद्ध ही है। प्रश्नान्त में—अगमः पूर्वान् ग्रामान् अग्निभूते ? अग्निभूते के एकार को अ+इ करके अ को अनुदात्त-प्लुत हुआ 'अ॒ग्नि॒भू॒त॒३इ॒'। उसी तरह—पूर्व दिशा के गाँवों में गये थे क्या पटु ? यहाँ पटो का छेद करके पट३उ किया गया है। अभिपूजित अर्थ में—तुम अच्छे हो माणवक ! माणवक के टि को अनुदात्त-प्लुत होता है।

(२३२) चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने (८।२।१०१)। वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतः। अग्निचिद्भाया३त्। अग्निरिव भायात्। उपमार्थे किम् ? कथंचिदाहुः। प्रयुज्यमाने किम् ? अग्निर्माणवको भायात्।

यदि किसी वाक्य में उपमा के अर्थ में 'चित्' अव्यय का प्रयोग हो तो उस वाक्य के टि का प्लुत अनुदात्त होता है जैसे—अग्निचित्भाया३त्=अग्नि के समान चमके (भा=चमकना)। उपमार्थ में यदि चित् शब्द न हो तो प्लुत अनुदात्त नहीं होता जैसे—कथंचित् आहुः। यहाँ चित् अनिश्चयवाचक है। यह भी ध्येय है कि चित् शब्द का उपमा के अर्थ में साक्षात् प्रयोग होना चाहिए। उपमा का अर्थ होने पर भी यदि वाचक चित् का प्रयोग न हो तो यह नियम नहीं लगेगा। जैसे—'अग्निर्माणवको भायात्' (माणवक अग्नि के समान चमकता है)—इसमें उपमा का अर्थ है किन्तु 'चित्' का प्रयोग नहीं।

न तो वहाँ प्लुत होगा, न अनुदात्त ही। 'इति' शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ है कि दूसरे उपमार्थक शब्दों का प्रयोग होने पर यह नियम नहीं लगेगा— अग्निरिव भायात्। यहाँ 'इव' उपमार्थक है फिर भी न प्लुत ही हुआ न उदात्त ही।

(२३३) **उपरिस्विदासीदिति च** (८।२।१०२)। टेः प्लुतोऽनुदात्तः स्यात्। उपरिस्विदादासी३त्। अधः स्विदासी३दित्यत्र तु 'विचार्यमाणानाम्' (८।२।९७) इत्युदात्तः प्लुतः।

'उपरिस्वित् आसीत्' वाक्य के टि को, जिसे प्लुत होने का विधान है ('विचार्यमाणानाम्' सूत्र से), अनुदात्त स्वर होता है। जैसे—उपरिस्विदासी३त्। ऋग्वेद (१०।१२९।५) में इसके पूर्व 'अधःस्विदासी३त्' वाक्य भी है—उसमें टि को 'विचार्यमाणानाम्' से प्लुत उदात्त ही होगा। यद्यपि उस सूत्र से दोनों वाक्यों में प्लुतोदात्त की प्रवृत्ति थी किन्तु प्रस्तुत सूत्र का विशेष उस सूत्र के सामान्य को रोक देता है और 'उपरिस्विदासी३त्' में अनुदात्त प्लुत हो गया।

(२३४) **स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु** (८।२। १०३)। स्वरितः प्लुतः स्यादाम्रेडिते परेऽसूयादौ गम्ये। असूयायाम्— अभिरूपक३अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम्। सम्मतौ—अभिरूपक३अभिरूपक शोभनोऽसि। कोपे—अविनीतक३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने—शाक्तीक३शाक्तीक रिक्ता ते शक्तिः।

असूया (ईर्ष्या), सम्मति (आदर), क्रोध और निन्दा के अर्थों में, आम्रेडित (द्विरुक्ति का दूसरा शब्द) के पहले वाला शब्द, उदात्त न होकर, स्वरित-प्लुत होता है। असूया के अर्थ में—अभिरूपक३अभिरूपक, रिक्तं ते आभिरूप्यम् (अरे सुन्दर पुरुष, तुम्हारी सुन्दरता खाली है—बेकार है)। यहाँ पहले 'अभिरूपक' के बाद में आम्रेडित अभिरूपक है अतः पहले वाले शब्द के टि को स्वरित-प्लुत होता है। प्रशंसा के अर्थ में—अभिरूपक३अभिरूपक शोभनोऽसि (सुन्दर हो)। क्रोध के अर्थ में—अविनीतक३अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म (अरे अविनयी, अभी समझ में आवेगा रे दुष्ट)। निन्दा के अर्थ में—शाक्तीक३शाक्तीक रिक्ता ते शक्तिः (अरे शक्तिशाली, तुम्हारी

शक्ति बेकार है)। इसमें द्विरुक्ति करने के लिए सूत्र है—वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु (८।१।८)।

(२३५) **क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्** (८।२।१०४)। आकाङ्क्षस्य तिङन्तस्य टेः स्वरितः प्लुतः स्यादाचारभेदादौ। आचारभेदे–स्वयं ह रथेन याति३उपाध्यायं पदातिं गमयति। प्रार्थनायाम्–पुत्रांश्च लप्सीष्ट३धनं च तात। व्यापारणे—कटं कुरु३ग्रामं गच्छ। आकाङ्क्षं किम् ? दीर्घायुरसि, अग्नीदग्नीन्विहर।

'क्षिया=आचार का उल्लंघन करना। आशीः=विशेष प्रकार की प्रार्थना। प्रैष=शब्दों से प्रेरणा देना (आज्ञा)। एक ही वाक्य में यदि एक तिङन्त को दूसरे तिङन्त से सम्बन्ध हो और आचारभेद, प्रार्थना या आज्ञा का अर्थ हो तो पहले तिङन्त (आकांक्ष तिङ्) के टि को स्वरित प्लुत होता है। आचारभेद के अर्थ में—स्वयं ह रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति (अपने तो रथ से जाता है, लेकिन अपने गुरु को पैदल भेजता है)। यहाँ आचार का उल्लंघन हुआ कि गुरु के सामने ऊँचा होने की चेष्टा कर रहा है। 'याति' तिङन्त का 'गमयति' से सम्बन्ध है अतः टि (ति) को स्वरित-प्लुत हुआ। प्रार्थना के अर्थ में—(आशीर्वाद) पुत्रांश्च लप्सीष्ट३धनं च तात (हे पुत्र, तुम पुत्र पाओ और धन भी)। यहाँ लप्सीष्ट को दूसरे लप्सीष्ट (जो छिपा है) से सम्बन्ध है, अतः स्वरित-प्लुत हुआ। आज्ञा देना—कटं कुरु३ग्रामं गच्छ (चटाई बनाओ और गाँव में जाओ) यदि आकांक्ष तिङ् न हो तो स्वरित-प्लुत नहीं हो सकता है जैसे—दीर्घायुरसि, अग्नीदग्नीन्विहर। इनमें 'असि' को 'विहर' से सम्बन्ध नहीं—दोनों स्वतन्त्र क्रियायें हैं। यद्यपि यहाँ आशीः और प्रेरणा के अर्थ भी हैं पर स्वरित-प्लुत नहीं हुआ।

(२३६) **अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः** (८।२।१०५)। अनन्त्यस्यान्त्यस्यापि पदस्य टेः स्वरितः प्लुत एतयोः। अगमः३पूर्वा३न् ग्रामा३न् ? सर्वपदानामयम्। आख्याने–अगम३म् पूर्वा३न् ग्रामा३न्।

प्रश्न करने और उत्तर देने के वाक्यों में उस पद के टि को स्वरित प्लुत होता है जो या तो अन्तिम पद या अन्तिम पद न हो—अर्थात् सभी पदों को स्वरित प्लुत हो। जैसे—अगमः३पूर्वा३न् ग्रामा३न् ? (क्या पूर्ववाले गाँवों

में तुम गये थे ?)। उत्तर देने में—अगम३म् पूर्वा३न् ग्रामा३न् (हाँ, मैं पूर्ववाले गाँवों में गया था)। सबों में स्वरित प्लुत हो। काशिका के अनुसार 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताऽभिपूजितयोः' से विकल्प से प्रश्नान्त में अनुदात्त प्लुत भी हो सकता है।

(२३७) **प्लुतावैच इदुतौ** (८।२।१०६)। दूराद्धूतादिषु प्लुतो विहितः। तत्रैव ऐचः प्लुतप्रसङ्गे तदवयवाविदुतौ प्लवेते। ऐ३तिकायन। औ३पगव। चतुर्मात्रावत्र ऐचौ सम्पद्यते।

वाक्य के टि को प्लुत होने का विधान कई सूत्रों में किया गया है जैसे—प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (८।२।८३), दूराद्धूते च (८।२।८४), इत्यादि। उस प्रकरण में जहाँ ऐ और औ (ऐच्) को प्लुत होने का प्रसंग आता है वहाँ उनके अन्तिम अवयव इ और उ को प्लुत होता है। ऐ के उच्चारण में दो वर्ण हैं—अइ, और में अउ। अतः इनके अवयव होने वाले इ उ को प्लुत होता है। जैसे—ऐतिकायन और औपगव शब्दों में 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्यापि एकैकस्य प्राचाम्' (८।२।८६) के अनुसार प्रथम गुरुवर्ण (ऐ, औ) को भी प्लुत हो सकता है। अब ऐ को अ + इ करके इ को प्लुत किया लेकिन लिखने में 'ऐ३तिकायन' ऐसा ही लिखेंगे। उसी प्रकार 'औपगव' में औ को अ + उ में तोड़कर उ को प्लुत किया, लिखेंगे—औ३पगव। इ को या उ को पृथक् करके प्लुत करने से लाभ यही हुआ कि ऐ औ की चार मात्रायें हो गईं, यों प्लुत होने पर भी तीन ही मात्रायें होतीं। चार मात्रायें इसलिए कि अ = १ मात्रा + इ या उ प्लुत होने पर ३ मात्रायें = ४ मात्रायें।

(२३८) **एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ** (८।२।१०७)। अप्रगृह्यस्य एचोऽदूराद्धूते प्लुतविषये पूर्वस्यार्धस्याकारः प्लुतः स्यादुत्तरस्य त्वर्धस्य इदुतौ स्तः।

(क) **प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्वेव** (वा०)। प्रश्नान्ते—अगमः३पूर्वा३न्ग्रामा३न् अग्निभूता३इ ? अभिपूजिते—भद्रं करोषि पटा३उ। विचार्यमाणे–होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ, न होतव्य३मिति। प्रत्यभिवादे—आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ। याज्यान्ते—स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ। परिगणनं किम् ? विष्णुभूते।

घातयिष्यामि त्वाम्। 'अदूराद्धूते' इति न वक्तव्यम्। पदान्तग्रहणं तु कर्त्तव्यम्। इह मा भूत्—भद्रं करोषि गौरिति। 'अप्रगृह्यस्य' किम्? शोभने माले३॥

(ख) आमन्त्रिते छन्दसि प्लुतविकारोऽयं वक्तव्यः (वा०)। अग्ना३इ पत्नी वः।

दूर से पुकारने (दूराद्धूत) को छोड़कर प्लुत के अन्य विषयों में यदि ए ओ ऐ औ (एच्) हो और वह प्रगृह्य न हो तो प्लुत होने पर उसके भाग कर दें—पूर्वार्द्ध में आकार (या अकार) हो, एच् को होने वाला प्लुत इसी को हो तथा उत्तरार्द्ध में क्रमशः इ उ हों। वार्तिककार प्लुत के प्रसंगों की गणना करके 'अदूराद्धूते' को स्पष्ट करके इसे सीमित कर देते हैं कि केवल इन अर्थों में ही यह नियम लग सकता है—प्रश्नान्त (प्लुत के लिए—अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः), अभिपूजित (वही), विचार्यमाण (विचार्यमाणानाम्), प्रत्यभिवाद (प्रत्यभिवादेऽशूद्रे) और याज्यान्त (याज्यान्तः)। इनके स्थानों में प्लुत होने के सूत्र पहले आ चुके हैं।

(१) प्रश्नान्त में—अगमः३पूर्वा३न्ग्रामा३न् अग्निभूता३इ। यहाँ प्रश्न के अन्त में 'अग्निभूते' के टि को उदात्त हो रहा है जिसके दो भाग करके पूर्वार्ध (अ, आ) को उदात्त और बाद में इ करना है—अग्निभूत३इ या अग्निभूता३इ। 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' सूत्र से अनुदात्त प्लुत हो रहा है। (२) अभिपूजित अर्थ में—भद्रं करोषि पटा३उ। 'पटो' को दो भाग करके पट३उ या पटा३उ कर दिया। यहाँ भी अनुदात्त प्लुत है। (३) विचार्यमाण के अर्थ में—होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ। 'विचार्यमाणानाम्' सूत्र से इस वाक्य में टि को प्लुत (उदात्त) होता है अब 'गृहे' के एकार को 'गृह३इ' या 'गृहा३इ' करके अ या आ को ही प्लुतोदात्त कर देंगे। (४) प्रत्यभिवादन (प्रणाम का उत्तर) के अर्थ में—आयुष्मानेधि अग्नभूता३इ (हे अग्निभूते, चिरंजीवी हो जाओ)। यहाँ 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' (८।२।८३) से वाक्य का टि उदात्त-प्लुत हो रहा है। चूंकि टि एकार है अतः दो भाग करके 'अग्निभूता३इ' या 'अग्निभूत३इ' करेंगे। (५) याज्यान्त—'स्तोमैर्विधेमाग्नये' याज्याकाण्ड में पढ़े जाने वाले मन्त्रों में अन्तिम है इसमें 'याज्यान्तः' (८।२।९०) से प्लुत

होगा । टि चूंकि ए है अतः दो भाग करके 'अग्नया३इ' पढ़ेंगे । उपर्युक्त सारे उदाहरणों में अ आ के भ्रम का कारण यह है कि सूत्र में—अर्धस्यात् (अर्धस्य +अत्, अर्धस्य + आत्) लिखकर संधिविषयक भ्रम उपजा दिया है ।

वार्तिक में परिगणना करने का उद्देश्य यह है कि इन प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रसंग में विहित प्लुत को यह नियम न लगे । जैसे—'विष्णु-भूते घातयिष्यामि त्वाम्' में यद्यपि विष्णुभूते का एकार अपगृह्य है, अ-दूराद्धूत है तथापि प्रश्नान्त इत्यादि में न आने के कारण इसे न तो दो भाग हो रहा है न प्लुत ही । परिगणना का उद्देश्य अधिक स्पष्ट करें—'विष्णुभूते' सम्बोधन-पद है, यह दूर से पुकारा हुआ भी नहीं है (दूर सें पुकारा हुआ रहने पर 'दूराद्धूते च' से इसे प्लुत हो ही जाता)। जब यह अदूराद्धूत है तो 'एचोऽप्र-गृह्य०' सूत्र की सहायता से 'विष्णुभूता३इ' कहना चाहिए किन्तु वैसा तो हुआ नहीं है, इसलिए वार्तिक का आश्रय लें कि प्रश्नान्त, अभिपूजित आदि परि-गणित प्रसंगों में न होने से इसे वैसा नहीं हुआ ।

दीक्षित जी 'अदूराद्धूते' को व्यर्थ समझते हैं क्योंकि परिगणना करने पर अदूराद्धूत का अर्थ तो अपने आप चला ही आता है—'प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' आदि सूत्रों में 'दूराद्धूते' की अनुवृत्ति नहीं होती अतः तथाकथित 'अ-दूराद्धूत' रहता ही है, फिर सूत्र में 'अदूरा द्धूते' कहने का प्रश्न ही नहीं उठता । नियम के लिए परिगणना आवश्यक है, पर 'अदूराद्धूते' कहना व्यर्थ है । 'अदूराद्धूते' को पहले-पहल काशिका में व्यर्थ समझा गया है—'परिगणने सत्यदूराद्धूत इति न वक्तव्यम्' (पृ० ७३७)। नागेश ने इस मत का यों खण्डन किया है कि परिगणना के कारण 'अदूराद्धूते' का प्रत्याख्यान (काटना) ठीक नहीं । दूराद्धूत पद न केवल सम्बोधन का उपलक्षण है, बल्कि साधारणतया सुने गये पद भी इसमें आते हैं । यह बात और है कि दूराद्धूत के विशिष्ट स्थल—प्रश्नान्त, अभिपूजित आदि—में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती । इसलिए उसको काटना ठीक नहीं ।

लेकिन सूत्र में 'पदान्तस्य' ऐसा पद रखना चाहिए जिसका अर्थ होगा केवल पद के अन्त में आनेवाले एच् की उपर्युक्त दशा हो नहीं तो 'भद्रं करोषि गौः' इसमें 'गौः' के टि (औस्) की भी यही गति होगी पर चूंकि

यह पदान्त नहीं है इसलिए विभक्त होने से यह पद बच गया। यह भी ध्येय है कि प्रगृह्य-संज्ञक शब्दों की भी यह गति नहीं हो। 'शोभने माले३' में 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' से दोनों एकार प्रगृह्यसंज्ञक हैं, अतः उपर्युक्त क्रम से ए का विभाजन नहीं होगा यद्यपि अभिपूजित के अर्थ में प्लुत विहित है।

उपर्युक्त प्लुत का विकार (दो भागो में बँटना) वेद में सम्बोधन में ही होगा—यह कहना चाहिए। 'अग्ने३पत्नी वः' के स्थान में 'अग्ना३इ' हो गया है। आमन्त्रित = सम्बोधन।

(२३९) तयोर्य्वावचि संहितायाम् (८।२।१०८)। इदुतोर्यंकारवकारौ स्तोऽचि संहितायाम्। अग्ना३याशा। पटा३वाशा। अग्ना३यिन्द्रम्। पटा३वुदकम्। अचि किम्? अग्ना३इ वरुणा। संहितायां किम्? अग्ना३इ इन्द्रः। 'संहितायाम्' इत्यध्यायसमाप्तेरधिकारः इदुतोरसिद्धत्वादयमारम्भः। सवर्णदीर्घत्वस्य शाकल्यस्य च निवृत्त्यर्थः। यवयोरसिद्धत्वात् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) इत्यस्य बाधनार्थो वा।

उपर्युक्त सूत्र में उक्त इ और उ को क्रमशः य् और व् हो जाता है यदि बाद में अच् (कोई स्वर) आ रहा हो तथा संहिता का विषय हो। जैसे—अग्ने + आशा, एकार को प्लुत होने से आ + इ होकर अग्ना३इ + आशा = य् होकर अग्ना३याशा, कहीं-कहीं अग्न३याशा भी होता है क्योंकि एकार के अ + इ, आ + इ दोनों हैं। पटो + आशा = पटा३उ + आशा = पटा३वाशा। अग्ने + इन्द्रम् = अग्ना३इ + इन्द्रम् = अग्ना३यिन्द्रम्। पटो + उदकम् = पटा३-उ + उदकम् = पटा३वुदकम्। (अथवा—पट३वाशा, अग्न३यिन्द्रम् पट३वुदकम्)। यदि बाद में 'अच्' नहीं हो तो ऐसी दशा नहीं आ सकती—अग्ने + वरुणौ = अग्ना३इ वरुणौ। यहाँ बाद में व् है अतः इ को य् नहीं हुआ। यह भी स्मरणीय है कि केवल संहिता का विषय रहने पर ही ऐसी सन्धि होगी—'अग्ने + इन्द्रः' में केवल अग्ना३इ इन्द्रः होकर रह गया। 'संहितायाम्' का अधिकार अष्टम-अध्याय के अन्त तक चलेगा, सारे सूत्र सन्धि के ही मिलेंगे।

यहाँ प्रश्न उठता है कि इ उ को य् व् होने का विधान तो 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्र में हो ही गया है—उसी सूत्र से ऐसे उदाहरणों में काम क्यों नहीं चला लेते। पुनः एक अलग सूत्र देने की आवश्यकता ही क्या थी? उत्तर में यह कहना है कि 'इको यणचि' (६।१।७७) के प्रति 'एचोऽप्रगृह्य०' (८।२।१०७) के इत् उत् असिद्ध हो जाते हैं क्योंकि 'पूर्वत्रासिद्धम्, (८।२।१) परिभाषा के अनुसार सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी असिद्ध हो जाती है। 'अग्ना३इ इन्द्रः' में जब इ को य् होने लगता (इको यणचि से) तब 'अग्ने' को 'अग्ना३इ' करने वाला त्रिपादी-सूत्र (एचोऽप्रगृह्य०) ही असिद्ध हो जाता अर्थात् ए को आ इ होगा ही नहीं कि इ को य् कर सकें। इसीलिए यहाँ 'संहितायाम्' का आरम्भ करके इ उ को य् व् करने का विधान किया है।

अब इस उत्तर का भी प्रत्युत्तर हो सकता है—प्लुत के नियम तो अष्टाध्यायी के अष्टमाध्याय के द्वितीय-पाद में है (पूर्वत्रासिद्धम् के बाद) और स्वरसन्धि के नियम षष्ठाध्याय के प्रथम-पाद में (पूर्वत्रासिद्धम् के पहले)—'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) आदि सूत्र तो वहीं हैं। इसका यह अभिप्राय (ज्ञापक-न्याय से) निकलता है कि स्वरसन्धि के नियमों के प्रति प्लुत-नियम सिद्ध ही हैं—'पूर्वत्रासिद्धम्' कुछ कर नहीं सकता, नहीं तो 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्', 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य' इत्यादि सूत्र जो छठे अध्याय में हैं व्यर्थ हो जाते। अतः ज्ञापक-परिभाषा से यह नियम निकलता है। असिद्ध काण्ड में होने पर भी प्लुत के नियम स्वरसन्धि के प्रति असिद्ध नही हैं। यह बात इत्, उत् के साथ भी होगी—वह भी 'इको यणचि' के प्रति असिद्ध नहीं होगा। अतः प्रस्तुत सूत्र में 'य्वौ' देना व्यर्थ है।

दीक्षितजी इस आक्रमण को सँभाल नहीं सकते तथा अपनी पराजय स्वीकार कर दूसरी युक्ति निकालते हैं—मान लीजिये कि यण् से काम आप चला लेंगे परन्तु अग्ना३इ इन्द्रम्, पटा३उ उदकम्—आदि उदाहरणों में तो यण् नहीं लगेगा। इ+इ या उ+उ मिलकर तो ई ऊ हो जायेंगे (अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०७) लेकिन हमें अभीष्ट है य् व्। यह तो दीर्घ की बात हुई। 'अग्ना३इ आशा' में भी 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६।१

१२७) के अनुसार प्रकृतिभाव हो जाने की सम्भावना है परन्तु हमें अभीष्ट है य् करना। दोनों सूत्र लगकर क्रमशः दीर्घ और प्रकृतिभाव न कर दें। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में इ को य् और उ को व् करने का विधान किया गया है—यहाँ यण् से काम नहीं चल सकता। दीक्षितजी इसी बात को कहते हैं—सवर्ण-दीर्घत्वस्य (='अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन प्राप्तदीर्घस्य) शाकल्यस्य ('ह्रस्वश्च' इत्येतेन प्राप्तप्रकृतिभावस्य) च निवृत्यर्थः।

'इको यणचि' के पक्षपाती लोग फिर भी शान्त नहीं हुए। वे पुनः कहते हैं कि 'भो+इ (निपात)+इन्द्रः' की सन्धि करने पर न तो सवर्णदीर्घ होता और न प्रकृतिभाव ही होता है—दोनों को रोककर यण् हो जाता है—भोः को छान्दस-प्लुत है, इ निपात है प्रकृतिभाव की पूरी सम्भावना थी पर उसे रोककर यण् होकर—भोयिन्द्रः हो जाता है। इसी उदाहरण की तरह (प्रस्तुत सूत्र में भी 'य्वौ' की आवश्यकता नहीं होकर) यण् से काम चला ले सकते हैं।

इसके उत्तर में दीक्षितजी अन्तिम सिद्धान्त देते हैं—८।२।४ में सूत्र है 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' जिसका अर्थ है कि उदात्त यण् तथा स्वरित यण् के बाद का अनुदात्त स्वरित हो जाता है। हम यह जानते हैं कि त्रिपादी में 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार पूर्वसूत्र के प्रति परसूत्र असिद्ध हो जाता है। इसलिए उक्त सूत्र (उदात्तस्वरितयो०) के प्रति प्रस्तुत सूत्र में होने वाला य् या व् असिद्ध हो जायगा। असिद्ध हो जाने से ही 'अग्नयाशा' इत्यादि उदाहरणों में 'या' के आ को स्वरित स्वर नहीं होगा—यही हमारा अभीष्ट है। यदि यण् से काम यहाँ पर चलाने लगें तब तो 'उदात्तस्वरितयो०' सूत्र से यण् के बाद अनुदात्त स्वरित में बदल ही जायगा और यह अभीष्ट नहीं है। इसलिए यण् के बाद के अनुदात्त को स्वरित में बदलने से रोकने के लिए य् व् का पृथक् निर्देश किया गया है जिससे उक्त सूत्र के लगने के समय प्रस्तुत सूत्र असिद्ध हो जाय। अतः, य् व् की आवश्यकता के अनुसार 'तयोर्य्वावचि०' सूत्र आवश्यक था, यणादेश (इको यणचि) से काम नहीं चलता।

इसे काशिका में श्लोकों में भी दिया गया है—

किं तु यणा भवतीह न सिद्धं य्वाविदुतोर्यदयं विदधाति ।
तौ च मम स्वरसन्धिषु सिद्धौ शाकलदीर्घविधी तु निवर्त्यौ ॥ १ ॥
इक्तु यदा भवति प्लुतपूर्वस्तस्य यणं विदधात्यपवादम् ।
तेन तयोश्च न शाकलदीर्घौ यण्स्वरबाधनमेव तु हेतुः ॥ २ ॥

अर्थात् इत् उत् के स्थान में जो य् व् होने का विधान किया है वह यण् से यहाँ सिद्ध नहीं होता (क्योंकि इ उ असिद्ध हो जाते हैं)। पूर्वपक्ष—आपकी स्वरसन्धि में वे दोनों सिद्ध होंगे (क्योंकि प्लुत स्वरसन्धि में सिद्ध रहता है)। उत्तरपक्ष—तब शाकल (प्रकृतिभाव) और दीर्घ (सवर्ण) को हटाने के लिए यह सूत्र है ॥ १ ॥ पूर्वपक्ष—(भो३यिन्द्रः इत्यादि उदाहरणों में) जब प्लुतपूर्वक इक् रहता है तब तो यणादेश होता ही है फिर कठिनाई कैसी ? उत्तरपक्ष—तब य् व् करने का कारण शाकल और दीर्घ नहीं, प्रस्तुत यण् के बाद होने वाले अनुदात्त के स्थान में स्वरित स्वर को रोकने के लिए ही ऐसा (य् व् को यणादेश से पृथक् करना) किया गया ॥ २ ॥

स्मरणीय है कि दीक्षित भी ये विवाद काशिका से ही लेते हैं। यहाँ तक प्लुत का विचार चलता रहा। यद्यपि संस्कृत में भी ये उतने ही आवश्यक हैं किन्तु प्लुत-विचार का अवसर सिद्धान्त-कौमुदी में अन्यत्र न मिलने के कारण दीक्षितजी इसे वैदिक-प्रकरण में देते हैं। इनके प्रयोगों से संस्कृत-भाषा की जीवनीशक्ति का अनुमान हम कर सकते हैं कि एक समय यह जन-सामान्य की चलती-फिरती भाषा थी।

(२४०) **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** (८।३।१)। 'रु' इत्यविभक्तिको निर्देशः। मत्वन्तस्य च रुः स्यात्। 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) इति परिभाषया नकारस्य। इन्द्रं मरुत्व इह पाहि सोमम् (ऋ० ३।५१।७)। हरिवो मेदिनं त्वा। 'छन्दसीरः' (८।२।१५) इति वत्वम्।

वेद में सम्बुद्धि (सम्बोधन एकवचन) में मतुप् और क्वसु-प्रत्ययान्त शब्दों को रु आदेश होता है। यहाँ सूत्र में रु का निर्देश बिना विभक्ति लगाये ही किया गया है। अन्यथा 'ससजुषो रुः' के समान उसमें प्रथमा लगनी चाहिए। अब पूछें कि यह रु किसे हटाकर बैठेगा। अक्षरों द्वारा निर्दिष्ट आदेश

(सामान्यतः) अन्तिम अक्षर के स्थान में होते हैं (अलोऽन्त्यस्य) इसलिए रु न् को हटाकर स्वयं रहेगा। 'मरुत् के साथ, हे इन्द्र, तुम सोम पीओ।' √पा + लोट् (हि) = शप् लगने पर 'पिब' आदेश होता सो 'बहुलं छन्दसि' से शप् ही नहीं लगा और 'पाहि' बन गया। मरुत् + मतुप् = अनुबन्ध लोप करके 'मरुत् + मत्' बना, अब 'झयः' (८।२।१०) के अनुसार म् का व् हो गया तथा 'मरुत्वत्' (प्रातिपदिक) रूप हुआ। इसमें 'सु' विभक्ति लगाकर मरुत्वत् + सु = 'उगिदचां सर्वनामस्थाने चाधातोः' से नुम्, सुलोप, संयोगान्तलोप = मरुत्वन्। अब इसी नकार को रु होकर मरुत्व + रु + इह करके 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से रु का य् और 'लोपः शाकल्यस्य' से उसका वैकल्पिक लोप—मरुत्व इह। पुनः हरि + मतुप् = 'छन्दसीरः' से इ के बाद म् का व्—हरिवत्। सम्बुद्धि में हरिवन् तथा रु होने पर हरिवरु + मेदिनम् (रु का 'हशि च' से उ) हरिवो मेदिनं त्वा। 'हे अश्वयुक्त (इन्द्र), तुम बलवान् को·········।' अन्य उदाहरण—इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः (ऋ० १।३।६)। ये मतुप् के उदाहरण हुए। क्वसु के उदाहरण अगले सूत्र में देखें—मीढ्वः।

(२४१) दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च (६।१।१२)। एते क्वस्वन्ता निपात्यन्ते। मीढ्वस्तोकाय तनयाय (ऋ० २।३३।१४)।

(क) वन उपसंख्यानम् (८।३।१ वा०)। क्वनिब्वनिपोः सामान्यग्रहणम्। अनुबन्धपरिभाषा तु नोपतिष्ठते। अनुबन्धस्येहानिर्देशात्। यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वः। इणः क्वनिप्।

संस्कृत और वेद दोनों में दाश्वान्, साह्वान् और मीढ्वान् शब्दों की सिद्धि क्वसु प्रत्यय के साथ निपातन से होती है। √दाश्‌ (दान करना—भ्वादि) + क्वसु = क्वसु चूंकि लिट् लकार के स्थान में होता है इसलिए स्थानिवत् कार्य (द्वित्व, इट्) होना चाहिए, परन्तु निपातन से यह नहीं हुआ और 'दाश्वस्' रूप मिला, 'सु' लगाने पर 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) से उपधादीर्घ और 'उगिदचां सर्वनामस्थाने चाधातोः' (७।१।७०) से नुम्, संयोगान्तलोप (स् का) = दाश्वान् (= देनेवाला)। √सह् + क्वसु करने पर (यद्यपि सह् आत्मनेपदी है अतः कानच् लगना चाहिए पर निपातन

से इसे परस्मैपदी मान लिया गया है)—निपातन से उपधादीर्घ, इडभाव, द्वित्वाभाव=साह्वस्+सु=साह्वान्। √मिह्+क्वसु='हो ढः' से अप्राप्त होने पर भी ढ्, उपधादीर्घ आदि—मीढ्वान्। सम्बुद्धि में मीढ्वन् (रु)= मीढ्वः+तोकाय='विसर्जनीयस्य सः' से स्—मीढ्वस्तोकाय। 'हे दाता, पौत्रों पर और पुत्रों पर दया करो।'

वार्तिक में वन् का अर्थ है क्वनिप् और वनिप् प्रत्यय। 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य' परिभाषा के अनुसार जब अनुबन्ध लेने वाले प्रत्यय के विषय में कोई विधान होता है तब यह केवल उसी प्रत्यय के विषय में सिद्ध माना जाता है, दूसरे प्रत्ययों के विषय में नहीं (जो दूसरा अनुबन्ध लेते हैं), भले ही उन दोनों में मूल खण्ड एक ही हो। इससे वन् का अर्थ केवल वनिप् होगा, क्वनिप् नहीं—किन्तु दीक्षितजी के अनुसार यहाँ परिभाषा उपस्थित नहीं होती, कारण यह है कि वन् में कोई अनुवन्ध लगाया ही नहीं है, यदि अनुबन्ध लगे होते तभी दूसरे प्रत्ययों के नहीं लगने की सम्भावना थी। √इ+क्वनिप्=इ+वन्=कित् होने से गुणाभाव, पित् होने से तुगागम— 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्वन्, रु होने से=इत्वः (रु का विसर्ग)। त्वायन्तम्=युष्मद्+क्यच्+शतृ (अम्)। प्रातःकाल में जाने वाले हे देव! तुम्हारी कामना करने वाले व्यक्ति को जो धन से (भर देता है)।'

(२४२) उभयथर्क्षु (८।३।८)। अम्परे छवि नकारस्य रुर्वा। पशूँन्ताँश्चक्रे (ऋ० १०।९०।८)।

यदि पद के अन्त में न् हो और बाद में छव् प्रत्याहार (छ ठ थ च ट त) के ऐसे वर्ण हों जिनके बाद अम् प्रत्याहार के कोई वर्ण हों (अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न) तो लोक में र होता है (नश्छव्यप्रशान्)। वेद में रु और न दोनों ही होता है। पशून्+तान्+चक्रे। पशून् में पदान्त न् है जिसके बाद त् है तथा त् के बाद आ है—इस प्रकार उपर्युक्त स्थितियाँ पूरी हो रही हैं। यहाँ पर रु नहीं हुआ न् ही रह गया—पशून्तान्। इसमें 'चक्रे' जोड़ें। यहाँ न् के स्थान में रु हो रहा है पशून्ता रु+चक्रे= 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (८।३।२) से रु के पूर्व वैकल्पिक अनुनासिक, दूसरी स्थिति में—'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' (८।३।४) से रु के पूर्व अनु-

स्वार=पशून्तां (ताँ) रु+चक्रे=रु को विसर्ग 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' और विसर्ग को स् 'विसर्जनीयस्य सः'—पशून्तां स् चक्रे=अब 'स्तोः श्चुना श्चुः' से स् को श् होकर पशून्तांश्चक्रे। पशून्+तान् को भी रु कर देने से—पशूँस्ताँश्चक्रे या पशूंस्तांश्चक्रे हो जायगा।

(२४३) **दीर्घादटि समानपादे** (८।३।९)। दीर्घान्नकारस्य रुर्वा स्यादटि, तौ चेन्नाटौ एकपादस्यौ स्याताम्। देवाँ अच्छा सुमती। महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१)। उभयथेत्यनुवृत्तेर्नेह—आदित्यान्याचिषामहे।

दीर्घ स्वर के बाद रहने वाले पदान्त न् के साथ यदि अट् प्रत्याहार के किसी वर्ण की सन्धि हो और वे दोनों न् और अट् एक ही पाद में हों तो न् के स्थान में विकल्प से रु होता है (नहीं तो न् भी रह सकता है)। 'देवान्+अच्छा' एक ही पाद में हैं, 'देवान्' में आ के बाद पदान्त न् है इसके स्थान में रु होगा—देवा रु अच्छा। अब 'आतोऽटि नित्यम्' (८।३।३) से रु के पूर्ववर्ण 'आ' को अनुनासिक (निश्चित-रूप से) होगा—देवाँ रु अच्छा। रु के स्थान में 'भोभगो अघोअपूर्वस्य योऽशि' से य् और उसका 'लोपः शाकल्यस्य' से लोप—देवाँ अच्छा। 'सुमती' शब्द में तृतीया एकवचन का 'टा' प्रत्यय लगने से पूर्वसवर्ण ('सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०' से) हो गया (सुमत्या के स्थान में)। अन्य उदाहरण है—स देवाँ एह वक्षति (ऋ० १।१।२)। गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञः (ऋ० ४।२।५)। महान्+इन्द्रः=महाँ इन्द्रः (लोक में—देवानच्छा, महानिन्द्रः) 'उभयथा' की अनुवृत्ति होने से कहीं रु नहीं होकर न् भी रह सकता है—आदित्यान्+याचिषामहे=आदित्यान्याचिषामहे।

(२४४) **आतोऽटि नित्यम्** (८।३।३)। अटि परतो रोः पूर्वस्यातः स्थाने नित्यमनुनासिकः। महाँ इन्द्रः। तैत्तिरीयास्तु अनुस्वारमधीयते। तत्र छान्दसो व्यत्यय इति पाश्चः। एवं च सूत्रस्य फलं चिन्त्यम्।

यदि बाद में अट् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो रु के पूर्ववर्ती आकार के स्थान में नित्य-रूप से अनुनासिक होता है—महान्+इन्द्रः। न् का रु

उपर्युक्त सूत्र (दीर्घादटि०) से तथा आ का अनुनासिक (=चन्द्रविन्दु)— महाँ : इन्द्रः=रु का य् और लोप होकर महाँ इन्द्रः। कृष्ण-यजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखाध्यायी लोग ऐसे स्थानों में अनुस्वार पढ़ते हैं—महां इन्द्रः। प्राचीन आचार्य लोग (काशिकाकार आदि) कहते हैं कि यह वैदिक-व्यत्यय का उदाहरण है। यदि ऐसी बात है तब तो सूत्र का फल चिन्तनीय हो जाता है। यदि व्यत्यय होता ही, तब तो सूत्र देने की आवश्यकता नहीं थी, यों भी 'महाँ इन्द्रः' 'महां इन्द्रः' दोनों बन सकते थे। जब पाणिनि ने अनुनासिक का सूत्र दे दिया है तब तो इसकी मर्यादा इसी में है कि 'व्यत्ययो बहुलम्' का विरोध करे। नहीं तो 'आतोऽटि नित्यम्' सूत्र ही नहीं रहे। विरोध ही नहीं करें कि विरोध का परिहार करना पड़े।

(२४५) स्वतवान्पायौ (८।३।११)। रुर्वा। भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने (ऋ० ४।२।६)।

'स्वतवान्' शब्द के बाद 'पायु' के रहने पर न् को विकल्प से रु होता है। स्वतवान्+पायुः न् को रु तथा 'आतोऽटि नित्यम्' से आ को आनुनासिक— स्वतवाँ रु पायुः। 'भोभगोअघो०' यहाँ नहीं लगेगा क्योंकि बाद में अश् नहीं है, तब 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रु को विसर्ग हो जायगा—स्वतवाँः पायुः।

(२४६) छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः (८।३।४९)। विसर्गस्य सो वा स्यात् कुप्वोः, प्रशब्दमाम्रेडितं च वर्जयित्वा। अग्ने त्रातऋतस्कविः। गिरिर्न विश्वतस्पृथुः (ऋ० ८।९८।४)। नेह—वसुनः पूर्व्यस्पतिः (ऋ० १०।४८।१)। अप्रेत्यादि किम् ? अग्निः प्र विद्वान् (अथर्व० ५।२६।१)। परुषः परुषः।

वैदिक भाषा में विसर्ग के बाद कवर्ग या पवर्ग रहने से विसर्ग के स्थान में विकल्प से स् होता है लेकिन प्र शब्द या आम्रेडित (द्विरुक्ति का दूसरा शब्द) यदि पर में हो तब स् नहीं होता। ऋतः+कविः=ऋतस्कविः। विश्वतः+ पृथुः=विश्वतस्पृथुः। चूंकि यह नियम वैकल्पिक है इसलिये वसुनः+पूर्व्यस्पतिः की सन्धि करने पर न के बाद वाले विसर्ग को स् नहीं हुआ। प्र और आम्रेडित का निषेध क्यों किया ? अग्निः+प्र होने से विसर्ग का स् नहीं होता। आम्रेडित के अक्षरों में कवर्ग-पवर्ग रहने पर भी यह नियम नहीं

लगेगा—परुषः + परुषः। दूसरा 'परुषः' आम्रेडित है उसके आरम्भ में पवर्ग का वर्ण भी है किन्तु उसके पूर्व विसर्ग को स् नहीं होता।

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में विसर्ग का सकारादेश होना 'उपाचरित सन्धि' कहलाता है। इन सूत्रों के लिए पाणिनि मुख्य रूप से ऋक्-प्रातिशाख्य (४। ४१-६४) के ऋणी हैं।

(२४७) कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः (८।३।५०)[1]। विसर्गस्य सः स्यात्। प्र दि॒वो अ॑प॒स्कः (ऋ० ६।२३।५)। यथा॑ नो॒ वस्य॑सु॒स्कर॑त्। सु॒पेश॑स्करति (ऋ० २।३५।१)। उ॒रु॒ण॑स्कृधि (ऋ० ८। ७५।१)। सोम॒॑ न चारुं॑ म॒घव॑त्सु न॒स्कृ॑तम् (ऋ० १०।३९।२)। अनदितेरिति किम्? यथा॑ नो॒ अदि॑तिः॒ कर॑त् (ऋ० १।४३।२)।

विसर्ग के बाद यदि कः, करत्, करति, कृधि या कृत शब्द हों तो विसर्ग का स् हो जाता है किन्तु विसर्ग के पूर्व यदि 'अदिति' शब्द हो तो स् नहीं होता। 'कः'=√कृ+लुङ् (तिप्)—अट् अभाव, च्लिलोप, अपृक्त हल् तिप् के त् का लोप, धातु का गुण—कर् (र् का अवसान में विसर्ग)=कः। करत्=√कृ+लुङ् (तिप्)—अट् अभाव, 'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि' से च्लि को अङ्, धातु का गुण=कर्+अ+त्+करत्। करति=√कृ+लट् (तिप्)—'उ' विकरण के स्थान में बहुल रूप से शप्, गुण—कर्+अ ति=करति। कृधि=√कृ+लोट् (हि)—'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' से हि को धि=कृधि। कृतम्=कृ+क्त। उदाहरण—अपः+कः=अपस्कः। वस्यसः +करत्=वस्यसस्करत्। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में उदाहरण है—कुविन्नो वस्यसस्करत् (ऋ० ८।९१।१४)। ऋक्प्राति० (४।४३)। सुपेशः+करति= सुपेशस्करति। उरुणः+कृधि=उरुणस्कृधि। नः+कृतम्=नस्कृतम्। 'अदिति' के बाद रहने पर—अदितिः+करत्, विसर्ग ही रह जायगा, स् नहीं होगा—अदितिः करत्।

(२४८) पञ्चम्याः परावध्यर्थे (८।३।५१)। पञ्चमीविसर्गस्य सः स्यादुपरिभवार्थे परिशब्दे परतः। दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञे

---

(१) ऋ० प्राति० ४।४३ करं कृतं कृधि करत्करित्यपि परेषु।

(ऋ० १०।४५।१) । अध्यर्थे किम् ? दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः पर्योजः (ऋ० ६।४७।२७) ।

पञ्चमी विभक्ति के विसर्ग के बाद यदि उत्पन्न होने (अधि, उपरिभव) के अर्थ में परि शब्द रहे तो विसर्ग का स् होता है—दिवः+परि (उत्पन्न)= दिवस्परि । 'पहले स्वर्ग से ही उत्पन्न हुआ ।' 'अधि' (उत्पन्न) के अर्थ में क्यों कहा ? दूसरे अर्थों में नहीं होगा । पृथिव्याः+परि=पृथिव्याः परि । यहाँ परि=चारों ओर, ऊपर । 'उसका बल स्वर्ग और पृथ्वी के ऊपर (फैल गया) ।' ऋ० प्राति० ४।५६—पादादिरन्तश्च दिवस्परीति च ।

(२४९) **पातौ च बहुलम्** (८।३।५२) । पञ्चम्या इत्येव । सूर्यो॑ नो दि॒वस्पा॑तु (ऋ० १०।१५८।१) ।

(२५०) **षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु** (८।३।५३)[1] । वा॒चस्पतिं॑ वि॒श्वक॑र्माणम् (ऋ० १०।८१।७) । दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य । दि॒वस्पृ॒ष्ठं भन्द॑मानः (ऋ० ३।२।१२) । त॒मस॒स्पा॒रम॒स्य (ऋ० १। ९२।६) । परि॑वीत इ॒ळस्प॒दे । दि॒वस्प॒यो दिधि॑षाणाः । (ऋ० १। ११४।१) । रा॒यस्पोषं॒ यज॑मानेषु (ऋ० १०।१२२।८) ॥

पञ्चमी के विसर्ग के बाद यदि 'पातु' शब्द हो तो विसर्ग के स्थान में विकल्प से स् होता है । दिवः+पातु=दिवस्पातु । आकाश से (में) सूर्य हमारी रक्षा करे ।

षष्ठी विभक्ति के विसर्ग के बाद यदि पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् या पोष शब्द हो तो विसर्ग को स् होता है—वाचः + पतिम् = वाचस्पतिम् । दिवः+पुत्राय=दिवस्पुत्राय । दिवः+पृष्ठम्=दिवस्पृष्ठम् । तमसः+पारम्= तमसस्पारम् । इळः+पदे=इळस्पदे । दिवः+पयः=दिवस्पयः । रायः+ पोषम्=रायस्पोषम् । ये सभी समस्त पद (अलुक्) में हैं—देखिये अष्टाध्यायी ६।३, प्रारम्भिक सूत्र ।

(२५१) **इडाया वा** (८।३।५४) । पतिपुत्रादिषु परेषु । इळा॑यास्पु॒त्रः (ऋ० ३।२९।३) । इळायाः पुत्रः । इळायास्पदे इळायाः पदे ।

---

(१) ऋ० प्राति० ४।४६ तथा ६।६१ से तुलनीय ।

(क) **निसस्तपतावनासेवने** (८।३।१०२)। निसः सकारस्य मूर्धन्यः स्यात् । निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः । अनासेवने किम् ? निस्तपति । पुनः पुनस्तपतीत्यर्थः ।

'इडायाः' शब्द (इडा की षष्ठी का एकवचन) के बाद पति, पुत्र आदि शब्दों के आने पर विसर्ग को विकल्प से स् होता है—इडायाः + पतिः= इडायास्पतिः, इडायाः पतिः । इडायाः+पदे=इडायास्पदे, इडायाः पदे । विसर्ग को स् करने का प्रकरण समाप्त हो गया, अब षत्व विधान के कुछ सूत्र दिये जा रहे हैं । मूर्धन्यादेश को प्रातिशाख्य में नतिभाव कहते हैं (ऋ० प्रा० पञ्चम पटल) ।

आसेवन (आवृत्ति, बार-बार होना) का अर्थ यदि न हो तो निस्+ तप् की सन्धि होने से स् को ष् हो जाता है—निस्+तप्तम्=स् का ष् तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष् के बाद त् को ट्—निष्टप्तम् । राक्षस (एक बार) जले, शत्रु भी (एक बार) जले । बार-बार होने के अर्थ में ष् नहीं होगा—निस्तपति= बार-बार जलाता है (कष्ट देता है) । यह सूत्र लोक-वेद दोनों में है, अतः भ्वादि-प्रकरण में उद्धृत करने पर भी इसे पुनः दिया गया है ।

(२५२) **युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम्** (८।३।१०३)[1] । पाद-मध्यस्थस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात्तकारादिष्वेषु परेषु । युष्मदादेशाः त्वं-त्वा-ते-तवाः । त्रिभिष्ट्वं देव सवितः (ऋ० ९।६७।२६)। तेभिष्ट्वा । आभिष्टे । अप्स्वग्ने सधिष्टव (ऋ० ८।४३।९)। अग्निष्टद्विश्वम् (ऋ० १०।२।४)। द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः । अन्तःपादं किम् ? तदग्निस्तदर्यमा । यन्म आत्मनो मिन्दाभूदग्निस्तत्पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः । अत्राग्निरिति पूर्वपादस्थान्तो न तु मध्यः ।

युष्मद् शब्द का कोई तकारादि-रूप, तत्-शब्द या ततक्षु-शब्द यदि ऋग्वेद की ऋचाओं के पाद के बीच में (अन्तःपाद=पादमध्य) स् के बाद आये, तो स् का ष् हो जाता है । युष्मद् शब्द के तकारादि-रूपों में यहाँ त्वं, त्वा, ते और तव का ही ग्रहण होता है, त्वयि, त्वया आदि का नहीं । इनके आदि में तकार है । त्रिभिः (स्)+त्वम् =त्रिभिष्ट्वम् । स् का ष् और ष् के बाद

(१) तुलनीय—ऋक्प्राति० ५।३२, ५।३६

त को ट (ष्टुना ष्टुः) । तेभिः+त्वा=तेभिष्ट्वा । आभिः+ते=आभिष्टे । सधिः+तव=सधिष्टव । अग्निः+तद्=अग्निष्टद् । निस्+ततक्षुः= निष्टतक्षुः । ये सभी उदाहरण पाद के बीच के हैं । यदि पाद के आदि या अन्त में ऐसी स्थिति आ रही हो तो स् का ष् नहीं होगा जैसे—'तदग्निः' यह पाद का अन्त है, 'तदर्यमा' से दूसरा पाद शुरू हो रहा है—ऐसे स्थान में सन्धि होने पर 'तदग्निस्तदर्यमा' होगा । इसे अधिक स्पष्ट करने के लिये ऋचा के दो चरणों का उदाहरण भी दीक्षित जी दे रहे हैं—'यन्म आत्मनो मिन्दाभूदग्निः' यह एक चरण है, 'तत्पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः' दूसरा चरण है । 'अग्निः' प्रथम चरण के अन्त में है, 'तत्' दूसरे के आदि में है, अर्थात् पाद के बीच में तो नहीं है इसलिये सन्धि में केवल विसर्ग का स् हुआ है ।

(२५३) यजुष्येकेषाम् (८।३।१०४) । युष्मत्तत्ततक्षुषु परतः सस्य मूर्धन्यो वा । अर्चिभिष्ट्वम् अग्निष्टे अग्रम् । अर्चिभिष्टतक्षुः । पक्षे—अर्चिभिस्त्वमित्यादि ।

कुछ लोगों के मत से यजुर्वेद में भी युष्मत् के तकारादि-रूप, तत् और ततक्षु के पूर्व के स् को ष् हो जाता है—यह कुछ लोगों का मत है अतः वैकल्पिक है । अर्चिभिः+त्वम्=अर्चिभिष्ट्वम् । जिस पक्ष में ष् नहीं होगा उसके मत में 'अर्चिभिस्त्वम्' होगा । अग्निः + ते = अग्निष्टे, अग्निस्ते । अर्चिभिः+ततक्षुः=अर्चिभिष्टतक्षुः, अर्चिभिस्ततक्षुः । ऊपर के सूत्र में ऋग्वेद की बात थी, यजुर्वेद में विधान करने के लिये सूत्र पृथक् दिया है ।

(२५४) स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि (८।३।१०५) । नृभिष्टुतस्य—नृभिः स्तुतस्य । गोष्टोमम्—गोस्तोमम् । 'पूर्वपदात्' (८।३।१०६) इत्येव सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम् ।

वेद में स्तुत और स्तोम शब्दों के पर में रहने से इनके पूर्व के स् को ष् हो जाता है । नृभिः+स्तुतस्य=भिस् के स् को ष्, स्तु के स् का लोप (झलो झलि ८।२।२६), त को ट (ष्टुना ष्टुः)—नृभिष्टुतस्य । नृभिः स्तुतस्य या नृभिस्तुतस्य भी हो सकता है क्योंकि यह नियम वैकल्पिक है । यहाँ भी 'एकेषाम्' (एक मत से) की अनुवृत्ति होती है । गो+स्तोमम्=गोष्टोमम्, गोस्तोमम् । स्तोम=प्रार्थना । यद्यपि आगामी सूत्र 'पूर्वपदात्' से ही इस सूत्र

के कार्य हो सकते थे किन्तु प्रपञ्च अर्थात् उदाहरण देने के लिये इसका पृथक् उपन्यास किया गया है।

(२५५) **पूर्वपदात्** (८।३।१०६)। पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य सस्य षो वा। यदिन्द्राग्नी दि॒विष्ठः (ऋ० १।१०८।११)। (पूर्वपदात् किम् ?) यु॒वं हि स्थः॒ स्वर्पती (ऋ० ९।१९।२)।

(२५६) **सुञः** (८।३।१०७)। पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य सुञो निपातस्य सस्य षः। ऊ॒र्ध्वं ऊ॒षु णः (ऋ० १।३६।१३)। अ॒भीषु णः (ऋ० ४।३१।३)।

यदि पूर्वपद में षत्व का कोई निमित्त (कारण—इण् कवर्ग, 'इण्कोः') वर्तमान हो तो उसके बाद में आने वाले स् को ष् हो जाता है। दिवि तिष्ठति इति दिविष्ठः (अलुक् समास)—इसमें दिवि+स्थ (√स्था+क) सन्धि की गई। 'दिवि' पूर्वपद में है इसमें षत्व का निमित्त इ है, अतः इसके बाद स् को ष् कर के 'दिविष्ठः' वनाया गया। यदि निमित्त पूर्वपद में नहीं हो (पूर्व में रहने पर भी अपना पद न हो) तो ष् नहीं होता जैसे—'हि' अलग पद है, 'स्थः' अलग। इसलिये 'हि स्थः' ही रह गया 'हिष्ठः' नहीं हुआ।

पूर्वपद में रहने वाले निमित्त के बाद यदि सुञ्-निपात (सु) हो तो सु को षत्व हो जाता है जैसे—ऊषु=ऊ+सु। 'ऊ' पूर्वपद है निमित्त भी है अतः सु को षु हो गया। अभी+सु=अभीषु। 'नः' का 'णः' में परिवर्तन करने के लिये 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' सूत्र है (८।४।२७) जिससे षु के बाद न् का ण् होता है। अभीषु और ऊषु में सुप्सुपा समास हुआ है। अभि+सु, उ+सु। दीर्घ (इकः सुञि)।

(२५७) **सनोतेरनः** (८।३।१०८) गो॒षा इन्द्रो॑ नृ॒षा अ॑सि (ऋ० ९।२।१०)। अनः किम् ? गोसनिः।

(२५८) **सहेः पृतनर्ताभ्यां च** (८।३।१०९)। पृतनाषाहम्। ऋताषाहम्। चात्—ऋतीषाहम्।

यदि पूर्वपद में निमित्त हो और उत्तरपद में √सन् (देना, तनादि) का कोई नकारहीन रूप हो तो सन् के स् को ष् होता है। गाः सनोति इति—गो+√सन्+विट् (जनसनखनक्रमगमो विट्)=विट् का सर्वापहारी लोप,

अनुनासिक न् को आ (विड्वनोरनुनासिकस्यात्)=गो+सा=गोषा। उसी प्रकार नृ+√सन्+विट्=नृषा। कुछ लोग 'गोषा इन्दो नृषा असि' पाठ रखते हैं लेकिन यह इन्द्र मन्त्र का खण्ड है। सूत्र में 'अन:' का अर्थ है—नकारहीन √सन् का इसलिये जब √सन् में न् का लोप नहीं होता हो तब स् का ष् नहीं होगा—गोसनिम्=गो+√सन्+इन् (छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्)। उस सूत्र में 'गोषणि' का उदाहरण दिया गया है वह वैदिक सम्प्रदाय की शाखा के अनुसार है—पदपाठ में 'गोऽसंनिम्' ही होता है। देखिये—सूत्र सं० २२ (वै० प्र०)।

पृतना और ऋत शब्दों के बाद √सह् से स् को ष् हो जाता है। च का ग्रहण करने के कारण ऋत के समान ही ऋति शब्द को भी मिला हुआ समझें। काशिका में कहा है कि चकार अनुक्त शब्द (ऋति) के समुच्चय के लिये है। पृतना+√सह्+ण्वि (छन्दसि सहः)—'अत उपधायाः' से वृद्धि, प्रत्यय का लोप=पृतना साह्+अम् (द्वितीया एकवचन)=पृतनाषाहम्। 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) के अनुसार √सह् का रूप साट् होने पर षत्व होता है जैसे पृतना+साट् (प्रथमा एकवचन)=पृतनाषाट्। यह उदाहरण उसी सूत्र का है। प्रस्तुत सूत्र में पृतनाषाहम् (साट् से भिन्न) ही होगा। 'पृतन' शब्द से भी उक्त रूप होगा जिसमें अकार को 'अन्येषामपि दृश्यते' से आकार होगा। 'ऋत' शब्द से भी सह+ण्वि करके 'ऋताषाहम्' होगा। दीर्घ उक्त रीति से हुआ है। ऋति+√सह्+ण्वि+अम्=ऋतीषाहम् (यह संहिता पाठ का रूप है, पदपाठ में 'ऋतिऽसहम्' होता है)।

(२५९) **निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि** (८।३।११९)। सस्य मूर्धन्यः। न्यषीदत्—न्यसीदत्। व्यषीदत्—व्यसीदत्। अभ्यष्टौत्—अभ्यस्तौत्।

वैदिक भाषा में नि, वि और अभि के बाद बीच में अट् (अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ, ह य व र) का व्यवधान पड़ने पर भी स् के स्थान में ष् विकल्प से हो जाता है। नि+असीदत्=न्यषीदत् या न्यसीदत्। वि+असीदत्=व्यषीदत् या व्यसीदत्। अभि+अस्तौत्=स् का ष् तथा त् का ट् होकर अभ्यष्टौत् या अभ्यस्तौत्। निमित्त और निमित्ती के बीच व्यवधान देने

वाले वर्ण लोक में ये हैं जिनके होने पर भी नियम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—नुम्, विसर्जनीय, शर् (श ष स)। यहाँ अट् का व्यवधान है।

(२६०) छन्दस्यृदवग्रहात् (८।४।२६) ऋकारान्तादवग्रहात्परस्य नस्य णः। नृमणाः। पितृयाणम्।

[अवग्रह=जिसका पाठ पृथक् करके किया जाय (अवगृह्यते=विच्छिद्य पठ्यते)। पद-पाठ में लोग अवग्रह का प्रयोग करते हैं जैसे—पितृयाणम् (संहिता-पाठ) को पद-पाठ में दोनों शब्दों का अवग्रह (विच्छेद) करके—'पितृऽयानम्' पढ़ेंगे। अवग्रह वतलाने के लिये पदपाठ में 'ऽ' चिह्न का प्रयोग होता है, इसी से लोग लुप्ताकार (ऽ) के चिह्न को भी साम्य के कारण अवग्रह चिह्न कहते हैं। अवग्रह=अव+√ग्रह+अप्।]

सूत्र का अर्थ यों है—ऋकारान्त अवग्रह के वाद उत्तर-पद में यदि न् हो तो उसके स्थान में ण् हो जाता है (=संहिता-पाठ में)। नृऽमनाः (पद-पाठ) = नृमणाः (सं० पा०)। पितृऽयानम् = पितृयाणम् (पितरों का मार्ग)। तुलनीय—ऋक्प्रा० ५।४०।

(२६१) नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः (८।४।२७)। धातुस्थात्। अग्ने रक्षा णः (ऋ० ७।१५।१३)। शिक्षा णो अस्मिन् (ऋ० ७।३२।२६)। उरु णस्कृधि (ऋ० ८।७५।११)। अभीषु णः (ऋ० १।३६।१३)। मो षु णः (ऋ० १।३८।६)।

धातु में स्थित निमित्त (र्, ष्, ऋ) के वाद तथा उरु या षु के वाद 'नः' के न् को ण् होता है। 'नः' शब्द अस्मद् की द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी के वहुवचन में होता है। धातुस्थ निमित्त के वाद—रक्षा ('रक्ष' का दीर्घ)+नः= रक्षा णः। यहाँ रक्ष् धातु से लोट् मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है। शिक्ष् से शिक्षा+नः=शिक्षा णः। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६।३।१३५) से रक्ष और शिक्ष को दीर्घ हो गया है। उरु के वाद–उरु+नः=उरु णः+कृधि (उरुणस्कृधि)। देखें, सू० २४७। षु के बाद—षु यहाँ पर 'सुञः' से होने वाला 'सु' निपात का मूर्धन्य रूप है। यह न समझें कि सप्तमी वहुवचन का प्रत्यय है। अभि+सु (षु)+नः=अभीषु णः। मोषु+नः=मोषु णः।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥

श्रीमद्दिव्यदिवामणिप्रणिहिता भूदेवता देवता-
मापन्ना विनयादिभिर्गुणगणै रत्नोपमास्तेजसा ।
मेदिन्यामखिलप्रकाशवलिताः कल्याणरूपा गिरा
नित्यं रम्यरसैर्जयन्ति सहजां कीर्त्तिं प्रपन्नास्तथा ॥ १ ॥

वंशस्तेषां जगति विलसत्युर्वरो भूसुराणा-
मेकस्यासीत्समधिभलुनीपत्तनं मातृभूमिः ।
यस्यामाद्या परमवरदा भक्तभीनाशशक्ता
चक्रे वासं भुवनजननी दक्षिणाकालिकाख्या ॥ २ ॥

कालाद्वंशे दिनकरकरामण्डिते पण्डिताख्ये
पारेशोणं मगधमगमत्तैलपं त्वादिनाथः ।
काले काले तदनु वहवो वंशकर्त्तार आसन्
येषामेषा विहितविदुषां राशिरासीद्विशेषा ॥ ३ ॥

रामानन्दो विपुलमतिमान्दीर्घकाले व्यतीते
शास्त्रज्ञानां मणिरिव वभौ पूर्वमीमांसकानाम् ।
आहूतो यः सुरगुरुरिव श्रेयसे धर्मनीते-
रावासाय प्रथितमहसा पोन्दिलाधीश्वरेण ॥ ४ ॥

विद्यागारेऽहरदतितरां नित्यमज्ञानजालं
लेभे सूनुं सदृशमतुलं सर्वदेवप्रसादम् ।
शास्त्रेऽधीती विविधविषये देवपूजाप्रवीणः
पार्श्वग्रामेष्ववहितयशा मेधया विश्रुतो यः ॥ ५ ॥

जातौ सूनू प्रकृतिसरलौ यस्य षष्ठीप्रसाद-
ख्यातो विद्वान्सुमतिरपरो द्वारिकाधीशनामा ।
यौ मेदिन्यां विविधकरणैरात्तवंशप्रशंसौ
लब्ध्वा कीर्तिं सपदि जयतो धीरवृत्तिं प्रपन्नौ ॥ ६ ॥

ज्येष्ठो भ्राता विमलमनयोर्लब्धवानीशभक्त्या
रत्नं पुत्रत्रितयमथ यः साधनां साधयित्वा ।
तेषां भिन्नस्थिरपदजुषामेष शेषः कनिष्ठो
वालो वाचा तदनु वयसा कोऽप्युमाशङ्करोऽहम् ॥ ७ ॥

भाषाशास्त्रेऽध्ययनसरणिं दर्शनेष्वात्मतत्त्वं
शाब्देऽशाच्च प्रखरविदुषां निर्भृतं सूत्रजालम् ।
साहित्ये यः सरसरसनामूलकं काव्यरूपं
लब्ध्वाऽधीतिं दिशति लभते चापि लोकेषु सद्यः ॥ ८ ॥
अस्मिन्वर्षे वसुशशिनभोबाहुयुक्ते शकारे
रांचीक्षेत्रे पुरहरमहारात्रिकालेऽर्कवारे ।
भट्टोजीनां भुवनविहिता कौमुदी सप्रसादा
तस्यां टीका परिणतिमगाद्वैदिकप्रक्रियायाः ॥ ९ ॥

॥ इति सटीकायां सिद्धान्तकौमुद्यां वैदिकप्रकरणमवसितम् ॥

परिशिष्ट–(क)

सूत्रसूचिः

सू. सं.	सूत्रम्	क्रमः
२३८	एचोऽप्रगृह्य	८।२।१०७
९०	ओजसोऽहनि	४।४।१३०
२१८	ओमभ्यादाने	८।२।८७
१४७	ओषधेश्च	६।३।१३२
२४७	कः करत्क	८।३।५०
६३	कद्रुकमण्ड	४।१।७१
२०४	कव्यध्वर	७।४।३९
२५	कव्यपुरीष	३।२।६५
५५	कृत्यार्थे	३।४।१४
२०	कृमृदृरुहि	३।१।५९
२०७	कृपेश्छन्दसि	७।४।६४
१७२	क्त्वापिच्छ	७।१।३८
१८१	क्त्वो यक्	७।१।४७
२३५	क्षियाशीः प्रै	८।२।१०४
१२६	खिदेश्छन्दसि	६।१।५२
१८	गुपेश्छन्दसि	३।१।५०
१८६	गोः पादान्ते	७।१।५७
१९४	ग्रसितस्कभि	७।२।३४
७७	घच्छौ च	४।४।११७
१६२	घसिभसो	६।४।१००
१९६	घोर्लोपो लेटि	७।३।७०
१०	चतुर्थ्यर्थे	२।३।६२
१२४	चायः की	६।१।३५
२३२	चिदिति	८।२।१०१
३५	छन्दसि गत्य	३।३।१२९
१०८	छन्दसि घस्	५।१।१०६
१०५	छन्दसि च	५।१।६७
१२०	छन्दसि च	५।४।१४२
१४५	छन्दसि च	६।३।१२६

सू. सं.	सूत्रम्	क्रमः
६४	छन्दसि ठञ्	४।३।१९
२१	छन्दसि निष्ट	३।१।१२३
५	छन्दसि परे	१।४।८१
१	छन्दसि पुन	१।२।६१
३७	छन्दसि लुङ्	३।४।६
२२	छन्दसि वन	३।२।२७
२४६	छन्दसि वा	८।३।४९
४६	छन्दसि शाप	३।१।८४
२३	छन्दसि सहः	३।२।६३
२१२	छन्दसीरः	८।२।१५
१५७	छन्दस्यपि	६।४।७३
१८७	छन्दस्यपि	७।१।७६
४९	छन्दस्युभय	३।४।११७
१५२	छन्दस्युभय	६।४।५
१६०	छन्दस्युभय	६।४।८६
२६०	छन्दस्यृदव	८।४।२६
२७	जनसनखन	३।२।६७
१५४	जनिता मन्त्रे	६।४।५३
६९	ढश्छन्दसि	४।४।१०६
८५	तद्वानासामुप	४।४।१२५
१६१	तनिपत्योश्छ	६।४।९९
१७९	तप्तनप्तनथ	७।१।४५
११२	तयोर्दार्हिलौ	५।३।२०
२३९	तयोर्य्वावचि	८।२।१०८
१७८	तस्य तात्	७।१।४४
७५	तुग्राद् घन्	४।४।११५
१२२	तुजादीनां	६।१।७
५०	तुमर्थे सेसे	३।४।९
८	तृतीया च	२।३।३

परिशिष्ट–(ख)

लक्ष्यसूचिः

—:०:—

पाणिनिव्याकरणेऽन्तर्भूतानां वैयाकरणानां

कालक्रमः

(डा० बेलवलकरसम्मतः)

आचार्याः	कृतयः	कालाः (ई०)
पाणिनिः	अष्टाध्यायी	६५० ई० पू०
कात्यायनः	वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् अष्टाध्यायीवार्तिकम्	३५० ,,
पतञ्जलिः	महाभाष्यम्	१५० ,,
भर्तृहरिः	भाष्यसेतुटीका (अ०) वाक्यपदीयम्	६५० ई०
वामनः जयादित्यः	काशिकावृत्तिः	६५० ,,
जिनेन्द्रबुद्धिः	काशिकाटीका (न्यासः)	७०० ,,
क्षीरस्वामी	धातुवृत्तिटीका (क्षीरतरङ्गिणी) निपाताव्ययोपसर्गवृत्तिः अमरकोशटीका	१०५० ,,
धर्मकीर्ति	रूपावतार (२६६४ सू०)	१०८० ,,
कैय्यटः	महाभाष्यप्रदीपः	११०० ,,
हरदत्तः	पदमञ्जरी (काशिकाटीका)	११४० ,,
वर्द्धमानः	गणरत्नमहोदधिः (गणपाठटीका)	११४० ,,
उज्ज्वलदत्तः	उणादिसूत्रटीका	१२५० ,,
माधवः	माधवीयधातुवृत्तिः सर्वदर्शनसंग्रहः	१३०० ,,
विमलसरस्वती	रूपमाला	१३५० ,,

रामचन्द्रः	प्रक्रियाकौमुदी (२४७० सू०)	१४५०	,,
विट्ठलाचार्यः	प्रसादः (प्रक्रियाटीका)	१५५०	,,
शेषकृष्णः	प्रकाशः (प्रक्रियाटीका)	१६००	,,
भट्टोजिः	सिद्धान्तकौमुदी प्रौढमनोरमा शब्दकौस्तुभः	१६२०	,,
जगन्नाथः	रसगङ्गाधरः मनोरमाकुचमर्दिनी	१६५०	,,
कोण्डभट्टः	वैयाकरणभूषणम्	१६५०	,,
नागेशः	परिभाषेन्दुशेखरः शब्देन्दुशेखरः (सि० कौ० टीका) शब्दरत्नं (हरिदीक्षितार्पितम्) वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा प्रदीपटीका (उद्योतः)	१७००	,,
वैद्यनाथपायगुण्ड (बालम्भट्टः)	छाया (उद्योतटीका) गदा (परि० टीका) कला (मञ्जूषाटीका) प्रभा (शब्दकौस्तुभटीका) चिदस्थिमाला (शब्देन्दुटीका) भावप्रकाशिका (शब्दरत्नटीका)	१७५०	,,
वरदराजः	लघुसिद्धान्तकौमुदी (११८८ सू०) मध्यसिद्धान्तकौमुदी (२११५ ,,) सारसिद्धान्तकौमुदी (७०० ,,)	१७५०	,,

अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

दशरूपकम् । धनिककृत 'अवलोक' संस्कृत एवं डॉ० भोलाशङ्कर व्यासकृत 'चन्द्रकला' हिन्दी व्याख्या सहित

शिशुपालवधम् । मल्लिनाथकृत 'सर्वङ्कषा' संस्कृत एवं पं० हरगोविन्द शास्त्रीकृत 'मणिप्रभा' हिन्दी व्याख्या सहित । सम्पूर्ण

व्याकरणमहाभाष्यम् । सम्पूर्ण ८४ आह्निकों की हिन्दी व्याख्या सहित प्रथम बार प्रकाशित । व्याख्याकार—डॉ० हरिनारयणतिवारी

रसगङ्गाधरः । आचार्य बद्रीनाथकृत 'चन्द्रिका' संस्कृत एवं आचार्य मदनमोहनझाकृत हिन्दी व्याख्या सहित । १-३ भाग

संस्कृत-हिन्दी कोशः । वामनशिवराम आप्टे

लघुसिद्धान्तकौमुदी । श्रीमहेशसिंहकुशवाहाकृत वैज्ञानिक, विवेचनात्मक 'माहेश्वरी' हिन्दी टीका सहित (उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत) । १-२ भाग

अमरकोषः । 'रामाश्रमी' संस्कृत एवं मन्नालाल अभिमन्युकृत हिन्दी टीका सहित

काव्यानुशासनम् (सटीक) । श्रीहेमचन्द्रविरचित

वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्ड) । हरिवृषभकृत स्वोपज्ञवृत्ति एवं डॉ० शिवशङ्कर अवस्थीकृत अन्वय, अनुवाद एवं हिन्दी व्याख्या सहित

अनुवादरत्नाकरः । डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी

भाषाविश्लेषण । भाषाशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ । मोतीलाल गुप्त

पाणिनीकालीन भारतवर्ष । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

पाणिनीयशिक्षा । 'वेदाङ्गशिक्षाविमर्श' संस्कृत टीका एवं 'नारायणी' हिन्दी टीका सहित । व्याख्याकार—शिवराजाचार्य कौण्डिन्नयायन

परमलघुमञ्जूषा । पं० वंशीधरमिश्रकृत संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या सहित

प्रौढ़मनोरमा (कारकादव्ययीभावान्तोभागः) । सशब्दरत्न 'अनन्या' हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार—डॉ० रमाकान्त पाण्डेय